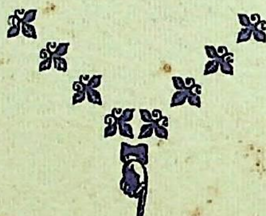
मूर्ति पूजा रहस्य



लेखिका :

ब्र० कुमारी कौशल

(१६ सितम्बर, १९६७)



प्रकाशक :

विश्व जैन मिशन

केन्द्र – पानीपत

प्रथम संस्करण १०००

मुद्रक :—
माडर्न आर्ट प्रिन्टर्स
३६१०, गली जगत सिनेमा वाली,
दिल्ली-६ ।

संक्षिप्त परिचय

पानीपत के एक सुसम्पन्न कुल में मेरे इस शरीर का जन्म हुआ। पूज्य पिता श्री भगवानदास जी वहां कपड़े का व्यापार करते हैं और मातेश्वरी श्री शकुन्तला देवी जगाधरी के 'स्वास्तिक मैटल वर्क्स' वालों की बहन है। शैशव काल से ही पूर्व संस्कारों के लक्षण कुछ-कुछ प्रगट थे, जिसके कारण अत्याधिक लाड़-प्यार में इसका भरण-पोषण हुआ। मातेश्वरी भी धार्मिक बुद्धि की होने से उन संस्कारों को और वल मिला। बचपन से ही खाने-पीने की शुद्धि का विवेक था।

पर किसके लिए मन अन्दर ही अन्दर व्याकुल था, और मौनपूर्वक चित्त दिशाओं में किसकी खोज करता था यह मैं न जानती थी। पारमार्थिक वा लौकिक सभी प्रकार के निमित्तों की यहाँ कमी नहीं। जिस व्यक्ति की जैसी भावनायें होती हैं उसको वैसा निमित्त अवश्य मिल जाता है। अभी मैं पढ़ती ही थी कि परम पूज्य गुरुवर्य क्षु० श्री जिनेन्द्र वर्णी जी सोनगढ़ की यात्रा करके लौटे। कुछ जिज्ञासु माताओं के आग्रह पर उन्होंने अध्यात्म शिक्षण देने के लिए एक शिविर चालू किया, जिसमें अपनी मातेश्वरी के संग मैं भी जाने लगी। मुझे लगा कि जिस वस्तु की कमी तू अपने भीतर महसूस कर रही थी, वह प्रभू की कृपा से तुझे स्वतः प्राप्त हो रही है। अतः मेरा झुकाव दिनोंदिन इस ओर बढ़ता चला गया। पढ़ाई समाप्त होते ही मेरे विवाह के सम्बन्ध में घर में खुसपुस होने लगी, इस भय से मेरा दिल दहलता था। मेरे हृदय के पवित्र भाव को भांपकर गुरुवर्य ने मेरे मन की चञ्चलता को देखने को वहुत भय दिखाये कि १५ वर्ष की इतनी छोटी वय में विराग का विकल्प, एक सुकुमार बालिका के लिए कठिन है। मार्ग की कठिनाईयें दिखाकर मुझे विचलित करने का प्रयत्न किया पर मेरी निश्चल निष्ठा देखकर उन्होंने मुझे

रक्षा का वचन दे दिया और मेरे माता-पिता व मामा आदि को जिस-किस प्रकार समझा दिया।

भव्य प्रेमियों के आग्रह से जब गुरुवर पानीपत से बाहर जाते तब मुझे कुछ सूना सा लगता, क्योंकि उनके दर्शन मात्र से मुझे अपूर्व प्रकाश मिलता था। जब १९५९ में मुज़फ्फरनगर में दिये गये प्रवचनों का संग्रह 'शान्ति पथ प्रदर्शन' नाम से प्रैस कापी करने को मेरे हाथ में आया तो मेरे हर्ष का पारावार न रहा। मुझे ऐसा लगता गुरुदेव मेरे समक्ष स्वयं मेरे जीवन की अपूर्व निधि मुझे प्रदान कर रहे हैं।

यद्यपि उन्होंने मुझे व्रतादि भी दिये परन्तु उनका सारा पुरुषार्थ मुझे अध्यात्मिक बनाने का था। उनकी वैज्ञानिक शिक्षण पद्धति, जीते जागते अनुभव गोचर दृष्टान्त, जिनसे कि साधारण व्यक्ति भी सरलता से विषय के मर्म को स्पर्श कर सकता है। फिर मैं क्यों न करती। जैन दर्शन व उस के चारों अनुयोगों का मर्मस्पर्शी अध्ययन कराने के अतिरिक्त उन्होंने स्याद्वाद जैसे व्यापक व जटिल विषय को हृदयंगम कराने को बड़ा परिश्रम किया। इस विषय पर 'नयदर्पण' नाम की पुस्तक भी लिखी। तत्पश्चात वैशेषिक सांख्य-योग, मीमांसक व वेदान्त दर्शनों का भी अतिस्पष्ट अध्ययन कराया। अपने प्रेमपूर्ण स्वभाव के कारण वे किसी भी मत का खण्डन करना नहीं जानते। सब में समन्वय करना ही वीर प्रणीत स्याद्वाद का मूल्य मानते हैं। उनकी इस समन्वय बुद्धि के कारण मेरा हृदय भी अधिकाधिक विशाल होता गया।

उन दिनों गुरुदेव "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष" का संकलन करने में संलग्न थे। सारे दिगम्बर जैन वाङमय को चार विशाल खण्डों में वर्णानुक्रम से सजाना कोई सरल काम न था। दिगम्बर जैन में ही नहीं भारत के सभी सम्प्रदायों में यह अपनी जाति की सर्वप्रथम कृति थी। सहायक कोई नहीं था। परन्तु यथावसर मुझे आया देख गुरुदेव ने मुझे प्रभु प्रदत्त सहायक देवी के रूप में समझा। यद्यपि अपने को मैं सर्वथा अयोग्य समझती थी, पर मेरे

हृदय में पूर्ण शक्ति प्रयोग करके उनका हाथ बंटाने का दृढ़ संकल्प कर लिया। और रात-दिन लगकर उस महान कृति को दो वर्षों में नसीराबाद रहकर सम्पूर्ण कर दिया।

बड़े-बड़े शास्त्रों का रहस्य समझ समझ कोश लिखने से बुद्धि विकसित होती चली गई। आगमगत सूक्ष्म विषय प्रत्यक्ष होने लगे। अब कहीं भी अन्यत्र न जाकर उनके चरणों में जीवन यापन करना एकमात्र मेरा लक्ष्य हो गया, क्योंकि जो रहस्यात्मक निधि वह मुझे प्रदान कर रहे थे उसकी अन्यत्र स्वप्न में भी आशा न थी। उन्होंने भी मुझे कहीं अन्यत्र जाने न दिया क्योंकि उन्हें पता था कि मेरे जैसी भोली-भाली बच्ची यदि अन्य त्यागियों के चक्कर में पड़ गई तो विनष्ट हो जाएगी। वह खाने-पीने की छुआछूत से अस्पृष्ट मुझे अध्यात्म रंग में रंगा देखना चाहते थे, वैसा ही उन्होने मुझे बनाया भी।

वाह्य व्रतों की अपेक्षा सन् १९६१ में पानीपत बिम्ब महोत्सव के अवसर पर ज्ञान कल्याणक के दिन गुरुसेवा से मुझे दूसरी प्रतिमा प्राप्त हुई और फिर सन् १९६२ में ईशरी में सप्तम प्रतिमा। आचार्य विमलसागर जी तथा अन्य आर्यिकाओं ने अनेकों वार मुझसे प्रभावित होकर आर्यिका के व्रत लेने को आग्रह किया, पर गुरुदेव के आध्यात्मिक शिक्षण के फलस्वरूप आज के रूढ़िग्रस्त कृत्रिम युग में मेरे अन्तष्करण ने कभी स्वीकार न किया।



ब्र० कुमारी कौशल के अर्थ दो शब्द

होनहार बिरवान के चिकने चिकने पात। अहंकारी मानव सोचता है कि मैं धनिक बन जाऊं, पर भाग्योदय बिना उसके सर्व विकल्प गन्धर्व नगर की कल्पना से अधिक कुछ नहीं। इसी प्रकार ज्ञानी, ध्यानी, विरागी, व्रती व तपस्वी बनने के लिए भी जानना। यद्यपि आज का कृत्रिम युग इनके पीछे बैठे अदृष्ट संस्कारों को गिनने की बजाये इन सब बातों को हठपूर्वक ग्रहण कर लेता है; परन्तु अन्तरंग सत्य प्रकाश के अभाव में वे सभी ऊपरी वेष बनकर रह जाते हैं। जीवन में रस घोलने की बजाये वे अहंकार को ही पुष्ट करते हुए स्वयं भार बन बैठते हैं। भ्रान्तिपूर्ण जीवन उन्नत होने की बजाये दीन-हीन व पतित हो जाता है।

प्रस्तुत बालिका उनमें से नहीं है, बल्कि संस्कारों में ही कुछ असाधारण योग्यतायें लेकर जन्मने वाली पवित्रात्माओं में से है। यद्यपि नगर में रहती थी, परन्तु मैंने पहले पहल इसे तब देखा जबकि अपनी माता के साथ यह अध्यात्म शिक्षण के अर्थ मेरे पास आई। पहली भेंट में ही इसकी असाधारण योग्यता व अध्यात्मिक रुचि का पूरा-पूरा परिचय मुझे मिल गया। पीछे अनेक युक्तियों द्वारा भी न डिगने वाले, इसके विवाह विमुख दृढ़ संकल्प ने और भी अधिक प्रभावित किया। केवल १५ वर्ष की अल्पवय में ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा लेना कोई बच्चों का खेल नहीं था। बौद्धिक प्रकाश, अध्यात्म भावना, तथा दृढ़ संकल्पता के कारण, यह शीघ्र ही स्वसंवेदन गम्य अध्यात्मिक रहस्यों का स्पर्श करने में सफल हो गई। ईशरी रहते हुए अपनी असाधारण योग्यताओं से इसने वहाँ के सभी धीमान् ब्रह्मचारियों, विद्वानों व त्यागियों का तथा आगन्तुक श्रीमानों का सहज मन मोह लिया। और इसी प्रकार सहारनपुर, नसीराबाद व इन्दौर में भी। यद्यपि आग्रह करने पर भी बाहर

जाते हुए लजाती है, पर जब कभी भी ऐसा अवसर मिला सभी महानुभाव इससे अत्यन्त प्रभावित हुए। अभी पिछले दिनों अर्थात् मई १९६७ में दिल्ली में श्री विद्यानन्दी जी के दर्शनार्थ गई, तो महाराज इससे बहुत प्रभावित हुए और वहाँ की महिला-समाज व कालेज की छात्राओं से आग्रह की कि वे इसकी संगति से लाभ उठावें।

गुरु भक्ति का यह जीता जागता आदर्श है। नसीराबाद रहते हुए बहुत अधिक अस्वस्थ हो जाने पर भी उसकी परवाह न करके "जैनेन्द्र सिद्धांत कोश" लिखने में मेरे साथ जो १८ घण्टे रोज अथक परिश्रम इसने किया है, उसकी सराहना शब्दों में नहीं की जा सकती। परिश्रम के अतिरिक्त कोश जैसी अपूर्व कृति को स्वयं समझ कर लिखना साधारण बुद्धि का काम नहीं। भगवान इस पवित्रात्मा को अधिकाधिक उत्कर्ष प्रदान करें।

शुभचिन्तक
क्षु० जिनेन्द्र वर्णी

१. शिक्षण में धर्म का स्थान

विद्या का फल विवेक, कर्तव्यनिष्ठा व प्रेम आदि सद्गुणों का प्रकर्ष है, परन्तु आज विद्या की वृद्धि होते हुए भी इन गुणों का दिनों-दिन अपकर्ष होता जा रहा है। इसका कारण क्या है ? अवश्य इस विद्या में ही कोई त्रुटि है। विद्या प्राप्त करने से पहले उसकी परीक्षा आवश्यक है। विद्या दो प्रकार की होती है—एक शब्दात्मक और दूसरी भावात्मक। शब्दात्मक विद्या पुस्तकों से पढ़ी जाती है, पर भावात्मक विद्या प्रणाली कुछ विचित्र ही होती है। उसे भी पढ़ना पड़ता है पर पुस्तकों से नहीं, किन्हीं आदर्श पुरुषों के जीवनों से। उसे भी पढ़ाया जाता है पर मुख से नहीं, जोवन चर्या से। उसकी भी परीक्षा देनी होती है, पर पत्रों पर लिख कर नहीं कार्यक्षेत्र में उतर कर। पुस्तक से पढ़ना, मुख से पढ़ाना और पत्र पर लिख कर परीक्षा देना सरल है; पर जीवन पर से पढ़ाना, चर्या से पढ़ाना, और कार्य क्षेत्र में परीक्षा देना कठिन है। पुस्तक वाली विद्या की प्राप्ति के लिये भी बलिदान व तपश्चरण की आवश्यकता है और दूसरी विद्या के लिये भी, पर दोनों में महान अन्तर है। पहिली का अधिष्ठान शरीर व बुद्धि है और दूसरी का हृदय व आत्मा। इसी लिये पहिली विद्या से शब्द पढ़ कर बना जाता है पण्डित व विद्वान, परन्तु दूसरी से गुण पढ़ कर बना जाता है इन्सान, महान व भगवान।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति रूप से भगवत्ता विद्यमान है, परन्तु अहंकार ममकार व स्वार्थ आदि दोषों के नीचे अचेत सी पड़ी उसकी प्राप्तता का यहां अत्यन्त तिरोभाव है। दूसरी विद्या के द्वारा

उसका आविर्भाव होता है और उसे ही कहते हैं भगवत्ता की प्राप्ति अथवा भगवान बनना। अभिमान व्यक्ति को अन्धा बना कर उसकी उन्नति रोक देता है, क्योंकि यह कषाय अल्पता में ही महत्ता की भ्रान्ति उत्पन्न करके अन्य सबका तिरस्कार करने को उकसाती रहती है। यही कारण है कि पुस्तक की विद्या पढ़ने वाले आजके युवक अपने को ही सर्वज्ञ समझ कर इस दूसरी विद्या का इस प्रकार अपमान व तिरस्कार कर रहे हैं, मानो वह कुछ है ही नहीं। भैया ! ज्ञान अनन्त है, अल्प मात्रा में सन्तुष्ट हो जाने का अर्थ है ज्ञानवृद्धि को रोकना। अपनी अभिवृद्धि के लिये ज्ञान या विद्या का नहीं बल्कि इस अभिमान का ही तिरस्कार करना योग्य है।

यद्यपि पहिली विद्या भी जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु दूसरी से शून्य वह अकेली व्यक्ति की अभिवृद्धि की बजाय उसकी हानि का कारण होती है। यही कारण है कि विद्या वृद्धि के साथ साथ आज विश्व अशान्ति, असन्तोष व संहार की भयंकर दाढ़ में पड़ा अपनी सत्ता विनष्ट करने पर उतारू हो रहा है। प्रत्येक विज्ञान की दो दिशायें होती हैं—एक सैद्धान्तिक (Theoritical) और दूसरी प्रायोगिक (Practical)। जिस प्रकार सैद्धान्तिक विद्या के बिना प्रायोगिक विद्या असम्भव है, उसी प्रकार प्रायोगिक के बिना सैद्धान्तिक निरर्थक है। पुस्तक से बुद्धि में पढ़ी जाने वाली पहिली विद्या केवल सैद्धान्तिक है, और भावों से भावों में पढ़ी जाने वाली दूसरी विद्या केवल प्रायोगिक। अतः दूसरी के बिना पहिली निरर्थक है। दूसरी विद्या पहिली की पूरक है। इसके अभाव के कारण ही आज का मानव हृदय-हीन हुआ जा रहा है। न उसमें प्रेम है और न कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक। भावशून्य पुस्तक की विद्या उसे अत्यन्त स्वार्थी बनाती जा रही है। परोपकार के अर्थ स्वार्थ का बलिदान करने की बजाय वह स्वार्थ कौमुट्ठी से निर्दयतापूर्वक पदार्थ का गला घोंट देनें में ही विद्या

का सार्थक्य समझता है, और घूस, ब्लैकमार्केट, राष्ट्रशोषण और युद्ध आदि को अपना कर्तव्य।

इस महान क्षति का प्रतिकार यदि शीघ्र ही न किया गया और दूसरी विद्या इसी प्रकार तिरस्कृत होती रही तो वह दिन दूर नहीं जबकि इस भूमण्डल के सर्व राष्ट्र अपने आन्तरिक व बाह्य संघर्षों की नित्य वृद्धिगत ज्वाला में भस्म हो जायेंगे। यह बड़ी समस्या हमारे राष्ट्रीय नेताओं की दृष्टि से ओझल हो, सो भी नहीं है। इसकी वर्तमान भयंकरता और आगामी परिणाम उनको हस्तामलकवत प्रत्यक्ष हो रहा है, और इसका प्रतिकार करने के लिए वे सतत् प्रयत् भी हैं। परन्तु आज कौन उन्हें यह बताये कि उनका प्रयत्न कभी भी सफल होनेवाला नहीं है, क्योंकि वह केवल समस्याओं के प्रति ही है, उनके मूल के प्रति नहीं। समस्याओं के बाह्य प्रतिकार से उनका भय नष्ट नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार उनसे भी भयंकर नई समस्याए पैदा हो जायेंगी, जैसे कि बड़े रोगों को रोक देने से जनसंख्या में वृद्धि और तत्परिणाम स्वरूप खाद्य समस्या। मूलोच्छेद ही समस्याओं का यथार्थ हल है, चाहे वह कितना ही कष्ट साध्य क्यों न हो और कितने ही काल में सिद्ध क्यों न हो। अधिक काल साध्य समझ कर उसे छोड़ शीघ्र साध्य कृत्रिम उपाय करना बुद्धिमत्ता नहीं।

मानव का हृदय या भाव विकार ही सर्व समस्याओं का मूल है। उसके सुधार के बिना कोई भी सुधार सम्भव नही। हृदय में घूस या ब्लैक मार्केट के प्रति ग्लानि हुए बिना हज़ार कानून बनाइये पर यह महान् संकट रुकने वाला नहीं। हृदय की पवित्रता के बिना फैमिली प्लैनिंग व्यभिचार वृद्धि का कारण बनेगी, जो जनसंख्या वाली समस्या से भी अधिक भयंकर होगी। इसी प्रकार अन्य सर्व समस्याओं के सम्बन्ध में भी जानना। इस कथन पर से यह सिद्ध है

कि आज विश्व के सामने वास्तव में न ज्ञान की समस्या है न विज्ञान की, न सद्भाव की समस्या है न अभाव की, न घूस की समस्या है न ब्लैक मार्केट की, न निर्माण की समस्या है न संहार की, न खाद्य की समस्या है न युद्ध की। मूल समस्या है केवल एक—मानव की भावशुद्धि। इसे ही नैतिकता कहो या कहो मानवीयता, प्रेम कहो या कहो कर्तव्यनिष्ठा, सुहृदयता कहो या कहो धर्म, पर समस्या मनुष्य के बाहर नहीं उसके भीतर स्थित है। मनुष्य हृदय ही शैतान होता है उसके हाथ-पाँव नहीं और उसका हृदय ही भगवान होता है, उसका वेष नहीं। हृदय की पवित्रता व प्रेम ही सच्चा बल है, भड़कीले भाषण, व सेना युद्ध की सामग्री नहीं। इसलिए समाज व राष्ट्र की उन्नति मानव के हृदय की उन्नति में निहित है।

हृदय भावात्मक तत्व है, शब्दात्मक नहीं। वह अध्यात्मिक वस्तु है आधिभौतिक नहीं। इसलिए उसको उन्नति का साधन भी अध्यात्म है भौतिकता नहीं। वैज्ञानिक साधनों से बाहरी जीवनस्तर का ही अभिवृद्धि सम्भव है। आन्तरिक जीवन स्तर की नहीं। अत: जीवन स्तर की वास्तविक उन्नति भी अध्यात्मोन्नति सापेक्ष ही सम्भव है, उससे निरपेक्ष नहीं। प्रजातन्त्र राज्य को धर्मनिरपेक्ष घोषित करना ठीक है, पर इसकी भी कोई सामा होनी चाहिए। धर्म निरपेक्षता का क्या अर्थ है, इसे ठीक से समझे बिना हम धर्म निरपेक्ष की वजाय हृदय निरपेक्ष हुए जा रहे है, मानवीयता निरपेक्ष हुए जा रहे है। धर्म या ईश्वर का तिरस्कार कर देने से हम वास्तव में मानवीयता का ही तिरस्कार किये जा रहे हैं। धर्म निरपेक्षता का अर्थ है सम्प्रदाय निरपेक्षता न कि आदर्श निरपेक्षता, अध्यात्म निरपेक्षता, भाव निरपेक्षता। वास्तव में विधान में **'धर्म निरपेक्ष'** शब्द के स्थान पर **'सम्प्रदाय निरपेक्ष'** शब्द का प्रयोग हुआ होता तो अधिक सुन्दर होता, क्योंकि धर्म व सम्प्रदाय में महान् अन्तर है।

सम्प्रदाय पक्षपात है और धर्म हृदय का स्वभाव, एक विज्ञान अथवा विद्या। वास्तव में धर्म निरपेक्ष हुआ जाना सम्भव ही नहीं, क्योंकि तिरस्कृत हो जाने पर भी मानव के हृदय में प्रेम व न्याय आदि के रूप में उसकी माँग बराबर बनी हुई है और वह बराबर उसके लिए छटपटा रहा है। धर्म निरपेक्ष कहने से देश का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ है। क्योंकि इससे धर्म ही तिरस्कृत हुआ है सम्प्रदाय नहीं। भाषावाद, प्राविन्सवाद, सभ्यतावाद आदि के पक्षपातों के रूप में सम्प्रदाय बराबर बढ़ते जा रहे हैं। सम्प्रदायों के नाम ही बदल गये हैं, परन्तु वे जूं के तूं स्थित हैं।

ऐ वर्तमान युग के भूले मानव ! तू सम्प्रदाय का त्याग कर, धर्म का नहीं; क्योंकि धर्म तेरा हृदय है धर्म तेरी सम्पत्ति है और धर्म तेरा बल है मानव समष्टि का नाम ही राष्ट्र है, इसलिए धर्म राष्ट्र का हृदय है, धर्म राष्ट्र की सम्पत्ति है। धर्म राष्ट्र का बल है। **पहिले बताई गई दूसरी विद्या ही 'धर्म' शब्द वाच्य है।** अतः इसका तिरस्कार नहीं सम्मान करना योग्य है। इसको हर प्रकार से पढ़ना व अपनाना योग्य है। देश के सर्व विद्या केन्द्रों में इसको सर्वप्रथम व सर्वोच्च स्थान दिया जाना योग्य है। इसी में मानव की व देश की उन्नति का रहस्य निहित है। यह तथ्य आंखों से; अन्तष्करण से परखा जाता है।

---

२. देवशास्त्र गुरु का सार्थक्य

अब प्रश्न यह होता है कि इस अध्यात्म विद्या के अध्ययन की विधि व प्रणाली क्या व कैसी होनी चाहिए। भारत की प्राचीन शिक्षण-प्रणालियों में तो इस प्रश्न को अवकाश न था। क्योंकि वहाँ तो आश्रम व गुरुकुल व्यवस्था होने से दोनों विद्याओं को समान स्थान प्राप्त था। अर्थात लौकिक व आध्यात्मिक दोनों ही विद्यायें साथ साथ पढ़ाई व अपनाई जाती थीं, और इसलिए सबका जीवन संतुलित व शान्त रहता था। व्यक्ति के हृदय में भी शान्ति थी और राष्ट्र में भी। आज की अंग्रेजी शिक्षण प्रणाली केवल लौकिक होने के कारण तथा पारमार्थिक विद्या का तिरस्कार करने वाली होने के कारण, अवश्य इस युग में उपरोक्त प्रश्न युक्त हैं। सो इस प्रश्न के दो हल हो सकते हैं—पहिला है गुरुकुल वाली प्राचीन पद्धति को अपनाना और दूसरा है धर्म स्थानो में जाकर देवदर्शन, सद्गुरु संगति व शस्त्राभ्यास करना। यद्यपि पहिला हल ही अत्युत्तम है, परन्तु वैसी व्यवस्था उपलब्ध न होने से वह केवल आगामी कल्पना का विषय है। अत्यन्त अपर्याप्त होते हुए भी दूसरा साधन ही वर्तमान परिस्थिति में ग्राह्य है।

जिस प्रकार स्कूल व कालेज, लौकिक अध्ययन के केन्द्र हैं, उसी प्रकार, मन्दिर, मठ आदि अध्यात्मिक विद्याध्ययन के केन्द्र हैं। जिस प्रकार स्कूल व कालेजों में तीन पदार्थ होने आवश्यक हैं—बैठने का स्थान, अध्यापक व पुस्तकें, उसी प्रकार धर्म स्थानों में भी स्थान, धर्म-गुरु व शास्त्र आवश्यक है। जिस प्रकार स्कूल व कालेजों में

अध्यापकों से पुस्तकों के विषय समझकर उसका विश्वास पूर्वक ग्रहण करने से ही उस विद्या की प्राप्ति होती है, केवल वहां जाकर बैठने से नहीं; उसी प्रकार धर्मस्थानों में भी जाकर, धर्मगुरुओं से शास्त्रों के विषय समझ कर, उनका श्रद्धानपूर्वक ग्रहण करने से ही उस विद्या की प्राप्ति होती है, केवल वहाँ जाकर बैठने पर हाथ जोड़कर चले आने से नहीं। जिस प्रकार लौकिक विद्या सम्बन्धी सब शंकाओं का समाधान अध्यापक जन ही कर सकते हैं घर की मातायें नहीं; उसी प्रकार अध्यात्म सम्बन्धो शकाओं का समाधान भी धर्म गुरु ही कर सकते हैं घर के माता पिता नहीं।

जिस प्रकार लौकिक विद्या को जाने बिना वैज्ञानिक तत्वों व चमत्कारों पर विश्वास नहीं होता, उसी प्रकार अध्यात्म विद्या को जाने बिना इसके तत्वों व चमत्कारों पर विश्वास नहीं हो सकता। विद्याध्ययन ही किसी विषय के विश्वास का साधन है, केवल शुष्क चर्चाएं व उपहास नहीं, इसलिए घर में बैठकर माता पिता से प्रश्न करने अथवा मित्र मण्डलियों में बैठकर इस विषय का उपहास करने की बजाए, धर्म स्थानों में आकर यथाविधि अध्ययन करना ही योग्य है। जिस प्रकार लौकिक विद्या के अध्ययन से बुद्धि विकसित होती है; उसी प्रकार इस विद्या के अध्ययन से भी बुद्धि में एक अद्वितीय प्रकाश उत्पन्न होगा। जिस प्रकार अनेक प्रकार की लौकिक विद्याओं में कोई भी निषिद्ध नहीं, बल्कि अपनी योग्यतानुसार अधिकाधिक विद्याओं का संग्रह ही अपेक्षणीय है, उसो प्रकार इस विद्या का निषेध करने की बजाय, अपनी बुद्धि के विकास के लिए, इसका अध्ययन करना ही अच्छा है। मन्दिर आदि धर्मस्थानों को केवल धर्मस्थान न समझ कर विद्या केन्द्र समझें तो मन्दिरों आदि का सार्थक्य व उपयोगिता अवश्य दृष्टि में आ जाये।

इस संस्था के अध्यापक के विषय में भी यहाँ कुछ विचार कर

लेना आवश्यक है। यह पहिले ही बताया जा चुका है कि अन्तस्तत्व होने के कारण यह विद्या केवल पुस्तकों से नहीं, आदर्श जीवन से पढ़ी जाती है। आदर्श व्यक्ति ही इस विद्या का अध्यापक हो सकता है, और उसका जीवन इसकी पुस्तक। वह बाहर से सादा व मलीन होते हुए भी भीतर से अत्यन्त विभूति सम्पन्न और उज्ज्वल होता है। उसके निर्वाह का आधार वेतन नहीं प्रेम है। उसका व्यापार धन के लिए नहीं, धर्म के लिए होता है। उसका भोग वैज्ञानिक साधन-सज्जा नहीं, अध्यात्मिक वैभव होता है। प्रेम रसपूर्ण होने के कारण उसके हृदयों में चिन्ता व सन्ताप को प्रवेश नहीं। वह सबकी सेवा करता है, पर स्वयं किसी से सेवा की आशा नहीं करता। इस जगत में उसका कोई नहीं, पर वह सबका है। वह जगत में रहता हुआ भी उससे स्पर्श नहीं करता, क्योंकि उसका हृदय मोह, राग, द्वेष, इच्छा, वासना, तृष्णा आदि दुर्गुणों से बहुत उंचा हो जाने के कारण अत्यन्त उदार होता है। इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुख, लाभ-हानि, जन्म-मृत्यु, स्वास्थ्य-रोग, महल-मसान, नगर-अरण्य आदि द्वन्दों में सदा समान बुद्धि रखने के कारण वह समता की मूर्ति होता है।

ऐसे साम्यरस-सागर वीतराग सद्‌गुरु ही इस विद्या के अध्यापक है। निःस्वार्थ व निःस्पृह होने के कारण उनके कृत्य तथा उनकी वाणी भूलकर भी न्याय, कर्तव्य व नैतिकता का उल्लघन नहीं करते। मुख से उपदेश दें या न दें, उनका जीवन स्वयं उपदेश है। उनके सान्निध्य को प्राप्त होकर क्रूर प्राणी अपनी क्रूरता, अन्यायी अपना अन्याय और परस्पर विरोधी व शत्रु अपना सर्व वैर-विरोध छोड़कर शान्त हो जाते हैं। उनके निकट सिंह व गाय, नेवला व सर्प, बिल्ली व चूहा, माँ-जात भाई वत् अपना सकल वैमनस्य व द्वेष भूल जाते हैं। उनके दर्शनमात्र से सकल सन्ताप स्वय शान्त हो जाता है। उनकी मधुर मुस्कान व हितोपदेश से हृदय अमृत से सींचा

जाता है।

ऐसे आदर्श सद्गुरु दो प्रकार के होते हैं—सिद्ध व साधक। सिद्ध पूर्ण होते हैं और साधक अपूर्ण। पूर्णकाम व कृतकृत्य होने से सिद्धों की 'भगवान', और अपूर्ण होने से साधकों की 'गुरु' संज्ञा है। इस आदर्श विद्या के अध्ययन में दोनों का ही आश्रय श्रेयस्कर है, परन्तु दोनों की विधि में अन्तर होना स्वाभाविक है, क्योंकि इनमें से एक अर्थात 'भगवान' सशरीर हमारे मध्य विद्यमान न होने से सर्वथा अप्रत्यक्ष हैं, जब कि सशरीर होने से गुरु का प्रत्यक्ष सम्भव है। अप्रत्यक्ष होने से भगवान के आश्रय के लिए कुछ कृत्रिम उपाय अपनाने पड़ते हैं। पाषाण या धातु आदि से भगवान की प्रतिमा या मूर्ति तैयार करके उसकी उपासना करना ही वह कृत्रिम उपाय है। प्रेम, भक्ति व आस्था सहित किसी का आश्रय लेना तथा सेवा करना ही यहाँ 'उपासना' शब्द वाच्य है।

सशरीर व जीवित होने के कारण गुरु की उपासना के सम्बन्ध में किसी को कोई शंका नहीं होती, क्योंकि एक तो वे मौखिक उपदेश द्वारा उपासक का कल्याण करने में सहायता करते हैं, और दूसरे उनके सानिध्य मात्र से हृदय में शान्ति की प्रतीति होने के कारण उनके जीवन से भी बहुत कुछ पढ़ा जा सकता है। परन्तु पाषाण आदि से निर्मित भगवद्विग्रह की उपासना के सम्बन्ध में अवश्य आज की तार्किक बुद्धि में अनेकों शंकायें उत्पन्न होती हैं, जिनका निराकरण करना ही इस छोटे से पैम्फलैट का मुख्य उद्देश्य है।

धर्मशास्त्रों के विषय में भी आज यह सर्वसामान्य भ्रान्तिपूर्ण आवाज सुनाई देती है कि वे समझ में नहीं आते। इसका उत्तर यदि आप थोड़ा विचार से काम लें तो आपकी बुद्धि स्वयं दे देगी। आप ही बताइये कि कौन सी पुस्तक ऐसी है, जो बिना अध्यापक से पढ़े आज तक आपकी समझ में आई हो। यह तो सम्भव है कि कुछ

मूल बातें अध्यापक से सीखकर, अथवा व्याकरण सरीखा कोई मूल विषय अध्यापक से पढ़कर, आप स्वयं अपनी योग्यता से अन्य अनेक पुस्तकें पढ़ व समझ सकें; पर यह असम्भव है कि सर्वथा अध्यापक से पढ़े बिना आप कोई भी पुस्तक पढ़ व समझ सकें। इसी प्रकार बिना विशेषज्ञ गुरुओं या विद्वानों का आश्रय लिए पहले पहल धर्म-शास्त्रों को भी समझना असम्भव है। परन्तु क्या इसका यह अर्थ है कि उन्हें छोड़ दिया जाय? जिस प्रकार पहले रुचिपूर्वक लौकिक पुस्तकों को आप स्कूल कालेजों में जाकर अध्यापकजनों से पढ़ते हैं, और पीछे बुद्धि विकसित हो जाने पर आप अनेकों पुस्तकें स्वतः पढ़ने व अन्य को भी पढ़ाने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं; उसी प्रकार पहले रुचिपूर्वक इन धर्मशास्त्रों को आप मन्दिरों व धर्मस्थानों में जाकर यदि विशेषज्ञों से पढ़ें व समझें तो आगे बुद्धि विकसित हो जाने पर आप स्वयं अन्य अनेकों शास्त्र पढ़ने व अन्य को पढ़ाने के योग्य हो जायेंगे।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी है कि प्रत्येक विषय को पढ़ने के लिए उस विषय सम्बन्धी कुछ पारिभाषिक शब्दों का संग्रह अत्यन्त आवश्यक हुआ करता हैं, जिसके बिना वह विषय पढ़ा व समझा नहीं जा सकता। आर्टस्, मैडिकल, मैकेनिकल, अलैक्ट्रिकल, आदि विभिन्न विज्ञानों के अपने-अपने कुछ विशेष पारिभाषिक शब्द होते हैं, उसी प्रकार इस विषय के भी कुछ अपने पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका सग्रह न होने के कारण ही ये शास्त्र आपकी समझ में नहीं आते। इस पर से शास्त्राध्ययन का त्याग नहीं बल्कि उन शब्दों का बुद्धि में सग्रह करना ही न्याय है। तीसरी बात यह भी है कि आपको इस विद्या की आन्तरिक रुचि नहीं है। अन्य विषयों की भांति उसे भी एक मौलिक विद्या समझ कर यदि रुचिपूर्वक पढ़ें तो अवश्य समझ जायें। न समझने पर उसे पुनः पुनः पढ़ना और उस

समय तक न छोड़ना जब तक कि समझ में न आ जाये, ऐसी रुचि व संकल्प ही विद्या प्राप्ति का प्रधान उपाय है।

---

३. पाषाण में भगवान

शास्त्रों के अध्ययन द्वारा, अथवा अपने उपदेशों द्वारा, अथवा अपने जीवन को आदर्श रूप में उपस्थित करने के द्वारा, जिज्ञासु विद्यार्थियों को साक्षात रूप से अध्यात्म विद्या प्रदान करने के कारण सजीव सद्गुरुओं का आश्रय लेना तथा उनकी सेवा उपासना करना संगत है, इस बात में किसी को भी सन्देह नहीं। परन्तु पाषाण या धातु आदि की जड़ मूर्तियें या प्रतिमाएं इस दिशा में कहाँ तक उपयोगी हैं, यह बात विवादग्रस्त है। शंका होनी स्वाभाविक है, क्योंकि आज की तर्कपूर्ण वैज्ञानिक बुद्धि अंधी होकर पुरानी रूढ़िओं को धार्मिक विषय समझकर चुपचाप स्वीकार करले, यह आशा नहीं की जा सकती। अतः इससे पहले कि पढ़े लिखे व्यक्तियों को मन्दिरों में जाकर देवदर्शन करने की प्रेरणा की जावे, यह आवश्यक है, कि उनके हृदय में स्थित इस प्रकार की शंकाओं का युक्तिपूर्वक उत्तर देकर उन्हें संतुष्ट किया जाये।

इन शंकाओं का उत्तर देने से पहले मैं आपको पुनः याद दिला देना चाहती हूं कि यहाँ उस अध्यात्म विद्या का प्रकरण है, जो पुस्तकों द्वारा शब्दों में नहीं बल्कि प्रधानतया भावों द्वारा भावों में

पढ़ी जाती है। लौकिक विद्या की भाँति यह विद्या शब्दात्मक नहीं भावात्मक है, इसलिए इसको पढ़ने का ढंग भी भावात्मक ही होना चाहिए। इस भौतिक युग में भाव-प्रयोग की विद्या विस्मृत हो जाने के कारण, इन्द्रिय प्रमाण ही पदार्थ निर्णय का एकमात्र साधन समझा जाता है, और यही मूल की भूल है, अथवा उपरोक्त शंकाओं का आधार है।

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि आंखों से देखने पर जो पाषाण दिखाई देता है, भावों से देखने पर वही भगवान दिखाई देगा। भौतिक दृष्टि सम्पन्न आज के मानव को यह बता देना तो बहुत सरल है कि प्रतिमा ज्ञान विहीन जड़ पाषाण होने के कारण जब स्वयं अपनी भी सहायता व रक्षा करने को समर्थ नहीं, तब आपकी रक्षा व सहायता कैसे करेगी। इसकी सिद्धि के लिए किसी भी तर्क व हेतु की आवश्यकता नहीं, परन्तु पाषण को भगवान सिद्ध करने के लिए अनेकों तर्क व हेतु देने की आवश्यकता पड़ती है, तथा उसे समझने के लिए हृदय में उतर कर अन्तर्दृष्टि का प्रयोग करना होता है, बाह्य दृष्टि का नहीं। इस लिए यह कार्य कुछ कठिंन पड़ता है। फिर भी यदि आप मेरे शब्दों पर से मेरे आशय को समझने का प्रयत्न करेंगे तो यह विषय अवश्य स्पष्ट हो जायेगा। यह भी न समझिए कि भावों द्वारा पदार्थ पढ़ने का आपको अभ्यास नहीं है। आप अपने इस स्वाभाविक साधन का पग पग पर प्रयोग कर रहे हैं, परन्तु श्रद्धा न होने के कारण यहाँ उसका प्रयोग नहीं करते। आइये दो घड़ी के लिए अपने इस साधन का प्रयोग करके देखें।

मैं आपसे पूछती हूं कि आँखों से देखने पर जैसे चमड़े, हड्डी के दो हाथ पाँव वाले मनुष्य आप हैं, वैसे ही राजा व कप्तान भी हैं। फिर भी आप उनमें विशेष बुद्धि करके उनका सम्मान आदि क्यों करते हैं, उन्हें भी अपनी ही भांति सामान्य मनुष्य क्यों नहीं

समझते ? आप अवश्य कहेंगे कि उनको वे अधिकार प्राप्त हैं जो आपको नहीं हैं। यह अधिकार आंखों का नहीं भावों का विषय है, अतः यहां भी उसी दृष्टि से भाव का प्रयोग करके देखें तो, आपके और सद्गुरुदेव के अधिकारों व मान्यताओं में दिन रात का अन्तर होने के कारण अन्य साधारण मनुष्यों की अपेक्षा उनकी विशेषता अवश्य दृष्टि में आ जाये। साधुओं व गुरुजनों की यह योग्यता व अधिकार भौतिक नहीं अध्यात्मिक हैं, तथा हृदय प्रधान हैं। वे महान गुण पहले बता दिये गए हैं। उन गुणों व योग्यताओं के आधार पर, पाषाण में भगवान देखने से पहले गुरु में भगवत्ता देखने का अभ्यास कीजिए। जब तक गुरु सामान्य पुरुष दिखाई देते रहेंगे तब तक प्रतिमा में भगवान के दर्शन असम्भव हैं।

यह तो हुई सजीव व सशरीर गुरुजनों में भगवद्बुद्धि द्वारा सम्मान जागृत करने की विधि, और अब सुनिए जड़ पाषाण की प्रतिमा में विशेषता देखने की विधि। यह तो सर्व मान्य है कि प्रतिमा सामान्य पाषाण की अपेक्षा अवश्य ही कुछ विशेषता रखती है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो औरंगजेब को द्वेषवश उनका संहार क्यों करना पड़ता। मूर्ति का तिरस्कार करने वाले व्यक्ति भी उससे द्वेष तभी कर सकते हैं जबकि उसमें उन्हें किसी ऐसे व्यक्तित्व के दर्शन हों जो उनके सम्प्रदाय को मान्य नहीं। मूर्ति की उपासना का निषेध करने वाले भी मुसलमान मुहम्मद साहब की मूर्ति का, ईसाई क्रास की मूर्ति का और आर्यसमाजी स्वामी दयानंद की मूर्ति का तिरस्कार न कर सकेंगे। इस पर से यह सिद्ध है कि मूर्ति सामान्य पाषाण नहीं, बल्कि किसी व्यक्ति की प्रतिनिधि है। जिस बुद्धि से साम्प्रदयिाक विद्वषवश मूर्ति का तिरस्कार किया जाता है, क्या उसी बुद्धि से उसका सम्मान नहीं किया जा सकता ? अवश्य किया जा सकता है। यदि वह मूर्ति उसके किसी उपास्य व्यक्ति की हो।

देखिये महात्मा गान्धीकी या महाराना प्रतापकी या शिवाजीकी या किसी अन्य सर्वमान्य पुरुष की मूर्ति या चित्र देखकर, मूर्तिपूजक या मूर्तिखण्डक सभी को कुछ बहुमान या सम्मान की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। मूर्ति में पाषाण की शंका करने वाले स्वयं आपके हृदय में अंग्रेज वायसरायों व कमाण्डरों की मूर्तियां व चित्र देख कर घृणा व तिरस्कार की बुद्धि उत्पन्न होती है। अपने पिता का चित्र देखकर क्यों प्रेम उमड़ता है और अपने शत्रु का चित्र देखकर क्यों क्रोध भभकता है। क्या वे सब जड़ पाषाण या काग़ज़के नहीं हैं। आप कहेंगे कि उनके पीछे कुछ न कुछ इष्ट या अनिष्ट इतिहास छिपा हुआ है, जिसकी स्मृति ही आपको घृणा या सम्मान उत्पन्न कराने में कारण है। बस यहां भी यदि आप उसी दृष्टि का प्रयोग करें और भगवत्प्रतिमाओं के पिछे भी छिपे किसी इतिहास का स्मरण करें तो उनके सामने आपका मस्तक नत हुए बिना न रहे।

महात्मा गान्धी आदि की मूर्तियों के सरपर यदि चूहे घूमें और कबूतर बीट करें तो क्या आपकी दृष्टि में उनका मूल्य कुछ कम हो जाता है, अथवा उनका इतिहासगत पूर्व बलिदान व वीरता आदि सद्गुण कुछ कलंकित हो जाते हैं? यदि नहीं तो उसी दृष्टि का प्रयोग यहां भी करें। भगवत्प्रतिमाओं के सर पर चूहें घूमें या मूतें, पर उसका मूल्य एक भक्त की दृष्टि में कम नहीं हो जाता। महात्मा गान्धी आदि की मूर्तियोंपर ऐसा हो जाये तो आप उससे घृणा करने की बजाये उन्हें साफ़ कर देना ही अपना कर्तव्य समझते हो, उसी प्रकार भगवत्-प्रतिमा पर भी ऐसा हो जाये तो आपको उससे घृणा हो जाने की बजाये उसे भक्ति पूर्वक साफ कर देनें की बुद्धि होनी चाहिये। आँखों से नहीं भावों से देखनेपर ही आप ऐसा कर सकेंगे।

इस विषय में कल्पना की महत्ता भी अवश्य ज्ञातव्य है। जिस वस्तु में जिस भाव की कल्पना कर ली जाती है, वह फिर वही दिखाई

देने लग जाती है, और उसे देखकर असली पदार्थवत् प्रेम भक्ति या घृणा के भाव उत्पन्न हो जाया करते हैं। असत् वस्तु में भी सत्वत् व्यवहार करना कल्पना का स्वभाव है। लाल, हरा व सफेद इन तीन रंगों के साधारण कपड़े के टुकड़े परस्पर सी देने पर जो आपकी तिरंगी राष्ट्रीय ध्वजा बनती है, उसमें और साधारण वस्त्र में क्या अन्तर है। चमड़े की पेटी व खाकी वर्दी में ऐसी कौनसी विशेषता है कि उसे पहनकर एक साधारण मनुष्य भी कप्तान बन जाता है। वर्दी से रहित उसी व्यक्ति का अपमान एक साधारण अपराध है और वर्दी सहित उसी का अपमान राष्ट्र का अपमान होने से महान अपराध बन बैठता है। क्यों? आप कहेंगे कि वर्दी उसके अधिकारों की और ध्वजा उसके देश की प्रतिक होने से, वे एक प्रकार से देश की सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। बस तो उसी कल्पना से यहां भी मूर्ति की साधारण पाषाण के साथ विशेषता स्पष्ट है, क्योंकि वीतरागता का रूप देकर उस पाषाण को भगवान का प्रतिनिधि बना दिया गया है। साधारण पाषण का अपमान या सम्मान नहीं होता, पर इसका होता है। इसी कल्पना के कारण संगे असवद मुसलमानों का पूज्य है।

यह आवश्यक नहीं कि किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के आकार में घड़ी गई मूर्ति में ही उपरोक्त दृष्टि या कल्पना होनी सम्भव है। अनघड़ पाषाण के टुकड़े में या किसी भी पदार्थ में यह कल्पना की जा सकती है। देश की ध्वजा, संगे असवद, शतरंज के मोहरे आदि उसके उदाहरण हैं। यद्यपि आकृति वाली प्रतिमा की अपेक्षा ऐसी प्रतिमा की उपासना कुछ कठिन है, परन्तु हो अवश्य सकती है, जैसे कि राजघाट पर केवल काले पाषाण का चबुतरा ही महात्मा गान्धी की समाधि के रूप में देश विदेश के यात्रियों की श्रद्धाञ्जली का विषय बना हुआ है।

दृष्टि की विचित्रता से दृष्ट पदार्थ की विचित्रता है। बताइये नित्य सिनेमा के पर्दे पर वास्तव में आप क्या देखते हैं —जीवित

व्यक्ति या प्रकाश की रेखाओं से निर्मित उनके अस्थायी चित्र ? फिर भी उन्हें देखकर आप हर्ष-विषाद, सम्मान-अपमान, अथवा जोश व बलिदान की भावनाओं से क्यों भर जाते हैं । इसका कारण यही है कि अस्थायी रेखायें व चित्र जानते हुए भी आप उस समय उनको चित्र की दृष्टि से नहीं बल्कि जीवित व्यक्तियों की दृष्टि से देखते हैं, वह भी एक्ट्रों की दृष्टि से नहीं बल्कि जिनका अभिनय किया जा रहा है, उन ऐतिहासिक व्यक्तियों की दृष्टि से। बस इसी प्रकार पाषाणदि से निर्मित जानते हुए भी यदि दर्शन करते समय आप उन्हें जीते जागते असली भगवान के रूप में देखें तो अवश्य ही उनमें आपको साम्य-रस-पूर्ण शान्त व वीतराग जीवनादर्श दिखाई दें। और आपका हृदय वैसे भावों से भरे बिना न रहे। आप कहेंगें कि चित्रों में तो भागने दौड़ने व बोलने चालने आदि की क्रियायें दिखाई देने से तहां सजीव की दृष्टि होनी सम्भव है, पर निष्क्रिय प्रतिमा में वह सम्भव नहीं। आपका यह तर्क भी कोई बल नहीं रखता, क्योंकि उसी स्क्रीन पर दिखलाये जाने वाले विज्ञापन-स्लाइड़ों के चित्र निष्क्रिय होते हुए भी आपके हृदय पर जीवत वत् प्रभाव डालते हैं। दूसरी बात यह है कि मूर्ति की निष्क्रियता, निस्पन्दता व स्थिरता ही उनकी क्रिया है, क्योंकि जिन वीतरागियों की वह प्रतिमा है, ध्यानस्थ अवस्था में वे ऐसे ही थे। जिस प्रकार निर्जीव भी सिनेमा के चित्र देख कर आप भाव से भर जाते हैं, उसी प्रकार निर्जीव भी प्रतिमा देख कर आप भक्ति से भर सकते हैं।

---

४. अविद्या में विद्या

अब प्रश्न होता है कि पाषाण में भगवान कल्पना कर लेने पर भी, हमारे विद्याध्ययन के प्रयोजन में तो उसका कुछ महत्व सिद्ध नहीं हो जाता। स्वयं अविद्यारूप होने से वे भगवान अध्ययन अध्यापन का कार्य करने को कैसे समर्थ हो सकते हैं। आपका यह प्रश्न भी उसी समय तक प्राण धारण करता है, जब तक कि आप में सच्चे भगवद्भाव उत्पन्न नहीं हो जाते। भावों की जागृति ही वास्तव में इस विषय का अध्ययन है, शब्दों कि स्मृति नहीं। काव्यकला जिस ! कार शब्दों द्वारा व्यक्ति में भावों का संचार करने को समर्थ है, संगीत कला जिस प्रकार स्वर द्वारा निष्क्रिय जड़ पदार्थों को सक्रिय करने में समर्थ है, और नृत्यकला जिस प्रकार संकेत मात्र से पूरे भाव व्यक्त करने में समर्थ है, उसी प्रकार मूर्ति व चित्रकला भी रूप द्वारा व्यक्ति को भाव प्रदान करने में समर्थ है। यही कारण है कि विश्व में मूर्तिकला को भी वही सम्मान प्राप्त है जो कि अन्य कलाओं को। मूर्ति का तिरस्कार वास्तव में कला का तिरस्कार है। यह तो कला की महत्ता है कि निर्जीव व निष्क्रिय पाषाण भी सजीव व सक्रिय प्रतीत होने लगे। भू-गर्भ से प्राप्त खण्डित मूर्तियों पर से जब देश विदेश की संस्कृति व सभ्यता पढ़ ली जाती है, तो क्या सर्वांग सुन्दर मूर्ति पर से वीतरागता आदि के भाव नहीं पढ़े जा सकते ?

जिस प्रकार सिनेमा के चित्रों में नित्य नये नये फैशन देखकर आप भी वैसे ही फैशन बनाना सीख जाते है, जिस प्रकार सिनेमा के अभिनायकों के अभिनय देखकर आप भी अपनी चाल ढाल व

बोल चाल में तदनुसार ही परिवर्तन कर लेते हैं, जिस प्रकार स्कूलों में चीज़ों के माडल दिखाकर शिक्षण देने की विधि प्रचलित है; अथवा बिना कहे भी जिस प्रकार किसी भोले मासूम बालक से प्रेम तथा क्रूर व्यक्ति से घृणा हो जाती है, बिना उपदेश सुने भी साधुजनों के जीवन से प्रभावित होकर आप अपने दुर्गुण देखने तथा सद्गुण उत्पन्न करने की भावना भाने लगते है, उसी प्रकार प्रतिमा में शान्ति, स्थिरचित्तता, प्रसन्नता, अक्रोध, धैर्य, ज्ञाता दृष्टारूप साम्यभाव, अनहंकारता आदि सद्गुणों के दर्शन करके स्वयं भी वैसा ही होने की भावना भायें तो अवश्य वह विद्या सीख जायें।

ऐसी भावनाओं की जागृति ही वास्तव में 'देव दर्शन' या 'भगवद्भक्ति' है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि विद्याध्ययन के इस यथार्थ वैज्ञानिक मार्ग में हम मात्र हाथ जोड़ कर सन्तुष्ट हो जाने को नहीं बल्कि कुछ सीखने को कहते हैं। जैसे स्कूल या कालेज का विद्यार्थी यदि स्कूल या कालेज में जाकर केवल अध्यापकों व पुस्तकों के सामने हाथ जोड़ने मात्र से सन्तुष्ट हो जाये तो आप ही बताइये कि उसका वहां जाना सार्थक है या अनर्थक। इसी प्रकार यहां भी मन्दिर जाकर देवदर्शन करने का सार्थक्य तभी है जब कि उपरोक्त प्रकार वहां जाकर देखा व सीखा जाये। यदि कोई विद्यार्थी स्कूल या कालेज जाकर कुछ भी न सीखे तो क्या उन संस्थाओं का मूल्य समाप्त हो जाता है ? उसी प्रकार कोई व्यक्ति मन्दिर जाकर तथा देवदर्शन करके भी कुछ न सीखे तो इसका मूल्य समाप्त नहीं हो जाता। कोई पढ़े या न पढ़े स्कूल कालेज तो अपना मूल्य धारण किये ही रहेंगे, इसी प्रकार कोई वहां जाकर कुछ सीखे अथवा सारे जीवन भी कुछ न सीखे परन्तु मन्दिर व प्रतिमा तो अपना मूल्य धारण किये ही रहेंगे।

अब रही बात यह कि उनसे क्या सीखें ? प्रेम व भक्ति का उदय हो जानेपर इस प्रश्न को भी कोई अवकाश नहीं रह जाता, क्योंकि

वास्तव में कोई भी व्यक्ति विषय को अपने भावों के अनुसार ही देखा करता है। वेश्या के शव को कामी व्यक्ति भोगने की दृष्टि से देखता हुआ स्वयं आसक्तिवश बेचैन हो जाता है, कुत्ता खाने की दृष्टि से देखता हुआ अपने होंट चाटने लगता है, और साधु कल्याण भावना से देखता हुआ स्वयं करुण-रस से भर जाता है। टैलीविजन सैट को आप चमत्कार की दृष्टि से देखते हुए उससे अपने कमरे की शोभा बढ़ाने की इच्छा करने लगते हैं, एक वैज्ञानिक इस की बनावट की ओर लक्ष्य करता हुआ, उसके रहस्यात्मक सिद्धान्त को खोजने के लिये विचार निमग्न हो जाता है, और एक अध्यात्मिक व्यक्ति सैट निर्माता की बुद्धि की ओर देखता हुआ विज्ञान के मूलभूत उस चेतन तत्व की महिमा गाने लगता है, जिसमें से कि ये सब चित्र विचित्र पदार्थ निकले चले आ रहे हैं। इसी प्रकार भक्ति-विहीन भौतिक जगत जिस मूर्ति को पाषाण मात्र देखता हुआ उसकी ओर से मुहं घुमा लेता है, एक कलाकार जिस में सौन्दर्य के दर्शन करता हुआ उससे अपने बंगले की शोभा बढ़ाने के सवप्न देखने लगता है, एक भावुक-भक्त उसे साक्षात् भगवद्रूप देखता हुआ अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये उसके चरणों में लोट पोट होने लगता है, और एक आध्यात्मिाक व्यक्ति उसके शरीर में ज्ञान दीप्ति, कर तलों में कृतकृत्यता, होटों पर आल्हाद जनित मधुर मुस्कान अथवा जिज्ञासु के प्रति उपदेश देने की उत्सुकता, नेत्रों में साम्यता व सर्वजग-साक्षित्व, कर्णपुटों में ॐकार ध्वनि और हृदय में आनन्दरसका अथाह सागर देखता हुआ थोड़ी देरके लिये स्वयं भी इस भौतिक जगतसे दूर किसी पारमार्थिक लोककी सैर करने लगता है।

तात्पर्य यह कि आप जिसभी दृष्टिसे देखें, प्रत्यक्ष उसी भावरूप आप स्वयं हो जाते हैं। आपको अन्य कुछ नहीं करना है, केवल देखनेका ढंग बदलना है। एक अनपढ़ जंगली भील, मिट्टीसे निर्मित

गुरु द्रोणकी कला विहीन भुंडी भांडीसी मूर्तिसे जब अर्जूनकी विद्याके गौरवको भी घटा देनेवाली धनुष विद्या सीख सकता है; तो क्या पढ़े लिखे होकर भी आप, संगेमरमरसे निर्मित, वीतराग भगवानकी कलापूर्ण सुन्दर प्रतिमासे कुछ नहीं सीख सकते ? अतः उपरोक्त प्रश्न करने से तो आपकी पढ़ाई का ही गौरव घटा जा रहा है।

पाठ याद करना वास्तविक पढ़ना नहीं है, बल्कि युधिष्ठर की भाँति जीवन में अपनाना ही वास्तविक पढ़ना है। 'क्रोध न करो' ऐसे जिन तीन पदों को याद करके अन्य विद्यार्थी तुरंत गुरु से शाबाश ले सकते हैं; उसे ही युधिष्ठर मान अपमान की परवाह न करके तीन महीने तक बराबर याद करता रहता है, और गुरुके समक्ष पाठ याद होने की हाँ तभी भरता है, जब कि क्रोध पर विजय प्राप्त कर चुकता है। वह है अध्यात्मिक विद्याध्ययनका यथार्थ उपाय, जिसे पहले भावनात्मक कहा गया है। अन्य साधारण विद्यार्थीयोंकी नकल न कीजिये। युधिष्ठरवत् यथार्थ विद्यार्थी बनिये और प्रतिमाके उपरोक्त भावोंमेंसे एक एक को क्रमसे पढ़ते व अपनाते जाइये। इस प्रकारके अध्ययनमें यद्यपि अधिक समय लगेगा, पर इसकी परवाह न कीजिये। 'देर आयद दरुस्त आयद'। जो कार्य जितनी अधिक देरमें होता हैं, वह उतनाही अस्थायी होता है। सफलता असफलताके प्रति उदासीन रहते हुए, जीवन वृत्तिमें उन गुणोंको धैर्य व सन्तोषपूर्वक अपनाते जाइये, और एक दिन आप देखेंगे कि आप स्वयं भगवान बन गए हैं।

जिस प्रकार धनोपार्जनके व्यापार क्षेत्रमें आप केवल कर्त्तव्य-बुद्धिसे नित्य पुरुषार्थ ही करते हैं, फल प्राप्तिकी उतावल नहीं; उसी प्रकार यहाँ भी आप कर्त्तव्य बुद्धिसे नित्य भगवत्ताके दर्शन ही करते जाइये, भगवान बननेकी उतावल नहीं। जिस प्रकार सभी व्यापारियोंको समान लाभ नहीं होता, अथवा सभी विद्यार्थियोंको समान

विद्या प्राप्त नहीं होती, उसी प्रकार यहां भी सभी दर्शकोंको समान प्राप्ति नहीं होती। जिस प्रकार सबको अपने अपने प्रारब्धानुसार हीन या अधिक समयमें हीन या अधिक धन व विद्याका लाभ होता है, उसी प्रकार यहां भी समझना। जिस प्रकार अधिक समयमें हीन लाभ अथवा लाभ न होनेपर भी सच्चा व्यापारी या विद्यार्थी निराश नहीं होता, बल्कि और भी अधिक पुरुषार्थ करने लगता है; उसी प्रकार कदाचित प्रतिपादित लाभ न हो या कम हो तो भी आपको निराश न होना चाहिए, बल्कि और भी अधिक दृढ़ता से अभ्यास करना चाहिये। जिस प्रकार कोई भी सच्चा व्यापारी या विद्यार्थी असफल होने पर व्यापार या विद्यामें त्रुटि नहीं देखता, बल्कि अपने पुरुषार्थ में ही त्रुटि देखकर उसे निवारण करता है; उसी प्रकार असफल रहनेपर आपभी एकलव्य भीलकी भांति अपने लक्ष्यमें ही त्रुटि देखिये और उसे निवारण करके ठीक बनाने का प्रयत्न कीजिये। इत्यादि अनेक बातें हैं जिनका ठीक प्रकार से ध्यान रखा जाये तो निश्चय ही यह अमूल्य विद्या आपको प्राप्त हो जाये। तात्पर्य यह कि सच्चे विद्यार्थीकी भांति कुछ पढ़नेकी भावना लेकर नित्य देव दर्शन करें तो अवश्य सफलता मिलेगी, हीन मिले या अधिक इसकी चिन्ता न करें।

आगामी कालमें इसका फल मिलेगा, ऐसा भी सोचना नहीं चाहिये, क्योंकि भाव प्रधान होनेके कारण, दृष्टि ठीक हो तो, इसका हीन या अधिक फल तुरंत प्राप्त होता है। धनलाभ पराश्रित है और अध्यात्म लाभ स्वाश्रित, इसलिये भी बिना किसीकी सहायताके इसका फल शान्ति प्रेम, व अन्तर्प्रकाशके रूपमें तुरंत प्रतीति गोचर होने लगता है। जिस प्रकार कि किसी दरिद्री व दुःखीको कोई व्यक्ति उसके घरमें दबे हुए धनका ब्योरा दे दे, तो उस धनकी प्राप्ति हो जाने पर, उसे अपने हितैषी उस व्यक्तिके प्रति स्वाभाविक

कृतज्ञता उत्पन्न हो जाती है; उसी प्रकार यदि आप प्रतिमा से एक बार भी किंचितमात्र भावलाभ कर सकें, तो स्वतः उस में आपकी भक्ति व प्रेम अधिक बढ़ेगा। जूं जूं भक्ति व प्रेम बढ़ेगा तूं तूं अधिक अधिक भावलाभ होगा और जूं जूं अधिक भावलाभ होगा तूं तूं अधिक अधिक भक्ति व प्रेम बढ़ेगा। इस प्रकार अत्यंत वृद्धिगत हो जानेपर आपमें भक्त व भगवानका द्वैत ही समाप्त हो जायेगा। आप तब भगवानमें इस प्रकार तन्मयसे हो जाओगे कि तहां आनन्दोत्कर्ष के अतिरिक्त कुछ भी शेष न रह जायेगा। बस यही भगवत्ता की प्राप्ति है।

---

५. विद्या में मन्दिर का स्थान

यहां यह कहना भी योग्य नहीं कि यह सब कार्य तो मन्दिर जाकर प्रतिमाके दर्शन किये बिना ही, स्वतंत्र रूपसे अपने भावों में घर बैठे ही किया जा सकता है, क्योंकि यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से बात ठीक है, परन्तु प्रायोगिक रूप से देखने पर यह मात्र दम्भ प्रतीत होता है। जिस प्रकार सैद्धान्तिक रूपसे विचारने पर, स्कूल व कालेजमें जाये बिना भी व्यक्ति स्वतंत्र रूपसे 'क' 'ख' आदिसे प्रारंभ करके धीरे धीरे बड़ेसे बड़ा विज्ञान भी घर बैठकर पढ़ने योग्य हो सकता है, परंतु प्रायोगिकरूपसे ऐसा सम्भव न होनेके कारण, प्राथमिक अवस्थामें विद्यार्थी को स्कूल व गुरुका आश्रय आवश्यक है। इसी प्रकार प्राथमिक जनों को अवश्य मन्दिर, प्रतिमा व गुरुका आश्रयलेना कर्त्तव्य है, उनका त्याग करना नहीं। पीछे अभ्यस्त हो जानेपर जिस प्रकार कोई विद्वान स्वयं अपने ज्ञानकी अभिवृद्धि कर लेता है, उसी प्रकार इस विद्याका साधक भी उंचली भूमिकाओंको प्राप्त करके स्वयं अपने भावोंकी अभिवृद्धिके योग्य हो जाता है। उस समय यदि उसका आश्रय छोड़ भी दिया जाये तो कोई हानि नहीं। परन्तु प्रारम्भिक भूमिकामें ही उसका निषेध करना वास्तवमें अध्ययनका ही निषेध करना है।

साक्षात विद्या प्रदान करने वाले होने से प्रारम्भिक भूमिकामें भी गुरुओंकी ही शरण योग्य है, जड़ प्रतिमाकी नहीं, सर्वथा ऐसा कहना भी योग्य नहीं। इसमें अनेकों युक्तियें दी जा सकती हैं :—

१. यद्यपि गुरूओंको अवश्य इस दिशामें बहुत उंचा स्थान प्राप्त है, यहां तक कि कदाचित उन्हें भगवान से भी महान माना गया है। क्योंकि सर्वत्र व सर्वदा उनकी सुलभ-प्राप्ति

असम्भव है, इसलिये उनके सद्भाव में आपकी बात ठीक होते हुए भी उनके अभाव में आप क्या करेंग । कृत्रिम उपाय अपनाने के अतिरिक्त चारा नहीं।

२. 'गुरुओंके सद्भावमें प्रतिमाका दर्शन अन्याय है' यह कहना भी यहां योग्य नहीं क्योंकि जैसा कि पहले बताया जा चुका है, आपके अपने भावोंके कारण ही प्रतिमा भगवान है, अन्यथा तो पाषाण ही है। वह पवित्र भाव हैं 'प्रतिमा में जीवित भगवानके दर्शन'। गुरुओंके सद्भावमें तो उसे पाषाण देखें और उनके अभाव में भगवान, यह बात कहने तक ही सीमित है। कल्पना रूप होने के कारण भावोंमें ऐसा द्वैत सम्भव नहीं। यदि किसीको ऐसा द्वैत रहता है तो कहना होगा कि उसमें वह पवित्र भाव ही अभी जागृत नहीं हुआ है। कल्पना अन्धी होती है। जिसे एकबार जो मान लेती है सदा उसे वही मानती हैं। एक ही पदार्थ में जब जो चाहें कल्पना करलें, ऐसा सम्भव नहीं, जिस प्रकार कि जिस कन्यामें एकवार पत्नीकी कल्पना करली गई वह सदा पत्नी ही है। ऐसा सम्भव नहीं कि पुजा करते समय बहन मान लिया जाये और भोगते समय पत्नी। यदि कल्पनामें संभव भी हो तो भी ऐसा व्यवहार अवश्य असम्भव है। अतः भावोंमें भगवान मान लिये जानेके कारण, प्रतिमा नित्य दर्शनीय व उपास्य है, और पदमें उंची होने के कारण अधिक वन्दनीय है।

३. जब चाहे दर्शन करलें और जब चाहे न करें, इस प्रकार की वत्ति भगवद्भाव-विहीन होनेके कारण निःसार है।

ऐसी वृत्ति वाले व्यक्तियों को उसमें भगवत्ता के दर्शन असम्भव हैं। जिस प्रकार उपरोक्त दृष्टांत में धन का पता बताने वाला वह व्यक्ति, अन्य कोई हित न करने पर भी, सारे जीवन हितैषी ही दिखता रहता है, सदा सामान्य व्यक्ति से कुछ ऊंचा ही प्रतीत होता है; उसी प्रकार एक बार भगवद्-बुद्धि हो जाने पर, प्रतिमा सदा के लिये भगवान प्रतीत होने लगती है। ऐसी अवस्था में आप ही बताइये कि भक्त किसी दिन भी उसके दर्शन किये बिना कैसे रह सकता है? क्या प्रेम भाव उदित हो जाने के पश्चात कोई भी प्रेमी कभी भी अपनी प्रेमिका का दर्शन किये बिना रह सकता है? यदि ऐसा करता है तो कहना होगा कि उसे प्रेम ही नहीं है।

४. उपदेशादि द्वारा अध्ययन करने की दृष्टि से देखें तो अवश्य ही प्रतिमा की अपेक्षा गुरू का स्थान ऊंचा है; परन्तु भाव द्वारा अध्यापन की दृष्टि देखें तो प्रतिमा का स्थान ही उनसे ऊंचा प्रतीत होगा, क्योंकि वीतरागी भी गुरु में कदाचित किंचित कषाय का लेश सम्भव है, और प्रतिमा में उसका सवर्था अभाव है।

इसी प्रकार इस विषय सम्बन्धी अन्य भी अनेकों शंकायें हो सकती हैं, जिनका स्वयं या किसी विशेषज्ञ द्वारा समाधान प्राप्त करके, इस दिशा में आस्था दृढ़ करना करना ही श्रेयस्कर है, स्थूल बुद्धि द्वारा इस की अवहेलना करना नहीं। किसी भी विज्ञान को समझ कर अपनानें में ही बुद्धि का सार्थक्य है। विज्ञान का तिरस्कार बुद्धि के स्थौल्य को प्रदर्शित करता है।

———

६. जड़ में जीवन

अब तक आपको समझाने के लिये यद्यपि मैं 'मूर्ति' या 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग करती आई हूँ, परन्तु भाव की ओर से देखने पर यह कुछ उचित प्रतीत नहीं होता। भगवान राम जिस समय बन जाने लगे तो भक्त भरत ने उनकी पादुकाओं को ही राजा के रूप में अभिषिक्त किया और स्वंय राजा बनना स्वीकार न किया। आखों से देखने पर यद्यपि भरत ही उस समय अयोध्या के राजा थे, परन्तु उनके हृदय से पूछिये तोअब भी राजा तो राम ही थे, वे स्वयं तो थे उनके आज्ञाकारी सेवक मात्र। उनकी दृष्टि में 'पादुका' पादुका नहीं थी बल्कि स्वयं भगवान राम थे। यदि पादुका समझते तो कभी भी अपने में वासत्व की प्रतीति न हो पाती।

इसी प्रकार किसी भी किसी देश की राजमुद्रा जिस पत्रपर की अंकित गई, है वह पत्र आंखों से देखने पर सामान्य काग़ज का टुकड़ा होने पर भी, भाव की दृष्टि से राज्य का अधिकार प्राप्त प्रतिनिधि है। जिसका मूल्य वही है जो कि स्वयं राजा का। उस पत्र का सम्मान राजा के तुल्य किया जाता है, उससे कम नहीं। उसका तिरस्कार राजा का तिरस्कार समझा जाता है। अपने पिता द्वारा द्वारपाल के रूप में स्थापित पृथिवीराज की प्रतिमा के गले में ही वरमाला डाल कर सयोगिता असली पृथिवी राज की पत्नी बन गई। पृथिवीराज जयचन्द युद्ध एक पाषाण की मूर्ति के लिये नहीं बल्कि स्वयं पृथिविराज की मान रक्षा के लिये हुआ था, क्योंकि भाव उचित हो जाने पर 'प्रतिमा' प्रतिमा नहीं

रहती बल्कि स्वयं व्यक्ति बन बैठती है। इसी भावोदय के आधार पर एकलव्य भील ने गुरु द्रोण द्वारा पूछा जाने पर यह उत्तर नहीं दिया, कि उसने गुरु की प्रतिमा से विद्या पाई है, बल्कि यह कहा कि साक्षात आपसे विद्या पाई है । इसी प्रकार अन्यत्र भी स्थल स्थलपर प्रतिमा, मूर्ति या चित्र आदि में व्यक्तित्व का व्यवहार देखा जाता है।

इस प्रकार के व्यवहार का आश्रय चाक्षुषदर्शन नहीं बल्कि भाव दर्शन है। जिस भाव के द्वारा 'ध्वजा' वस्त्रसे देश की लाज बन बैठती है, जिस भाव के द्वारा 'पादुका' स्वयं भगवान राम बन जाती है, जिस भाव के द्वारा राज्य-मुद्रा राज-प्रतिनिधि और राज-प्रतिम स्वयं राजा समझो जाती है, उसी भाव के द्वारा क्या भगवत्प्रतिमा स्वयं भगवान नहीं बन सकती।

इस प्रकार के भाव यद्यपि कपल्ना मात्र होने से असत् कहे जा सकते हैं, परन्तु जीवित राजा और राज-प्रतिमामें, भावों की समानता होने से वह कल्पना भी सत्य है। इस व्यवहार को ही शास्त्र में 'स्थापना शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। स्थापना का अर्थ वह भाव है, जिसमें कि प्रतिमा आदि पदार्थ भी 'यह वही है' ऐसे भासने लगते हैं। 'यह वह नहीं पर वैसा है' अथवा यह अमुक नहीं बल्कि उसकी मूर्ति है' सा भाव इन्द्रियाधीन है भावाधीन नहीं ।

स्थापना का यह भाव और भी दृढ़ हो जाता है जब कि उसमें कल्पना द्वारा जीवन उंडेल दिया जाता है, जैसा कि पंच कल्यानक विधान द्वारा प्रतिमा में ही, भगवान के गर्भावतरण से लेकर निर्वाण पिर्यन्त के सर्व दृश्य भाव लीला के रूप में अंकित कर दिये जाते हैं तब उस भाव में ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो यह (प्रतिमा) वही जीवित बाल प्रभु हैं जो हमारे देखते दखते माता के गर्भ में आये, तथा इन्द्रादिक ने हमारे सामने ही जिनका धूमधाम से पाण्डुक शिलापर ले जाकर जन्माभिषेक किया। बालसुर्यवत् धीरे धीरे बढ़ कर जिन्होंने

हमारे देखते देखते युवावस्था में प्रवेश किया, अमुक तिथि को जिनका अमुक कन्या के साथ प्राणिग्रहण हुआ और इतने वर्षों तक न्याय पूर्वक राज्य करकेजो हम सभी के सुहृदय व प्रेम-भाजन बन गए। एक दिन अकस्मात वैराग्य उदित हो जाने से वही राजर्षि सर्व राजपाठ त्याग वन की ओर प्रयाण कर गए और बहुत समझाने व गिड़गिड़ाने पर भी जिन्होंनेदीक्षा धारण करके केश लोंच कर दिया था। उस समय हम सभी अश्रु पूर्ण आखों से उस अपने हृदय के टुकड़े को निहार रहे थे। एक दिन अकस्मात वही योगीराज चर्या करते करते नगर में पधारे और मैंने स्वय उनको आहार दान करके कृतकृत्यता का अनुभव किया। उस दिन मेरा आंगन व हृदय दोनों पवित्र हो गए थे। पीछे तपस्या द्वारा शीघ्र ही कर्मों का विध्वंस करके उन्होंने ज्ञान-ज्योति प्रगट की और अपने दिव्य उपदेशों द्वारा जगत का कल्याण किया। उनकी उपदेश सभा बड़ी विचित्र व प्रभावक हुआ करती थी। असंख्य जन समुदाय, देवता व पशु भी वहां उपदेशामृत पान करने जाते थे। मैं भी कई बार उपदेश सुनने सभा में गया था। अन्त में वे शरीर त्याग निर्वाण प्राप्त करके इस लोक के ऊपर सिद्ध लोक में जा विराजे और हम लखाते ही रह गए। मानो उनके जीवनकाल की ये सारी प्रधान घटनायें हमारे समक्ष ही हुई हों, मानो वे बालपन से निर्वाण होने तक हमारे साथ ही रहे हों, हमारे साथ ही खेले हों और हमारे साथ ही बड़े हुए हों, स्मृतीपर ऐसा प्रतिभासित होने लगता है। यह (प्रतिमा) साक्षात वही भगवान हैं, जो मेरे भक्तिभाव द्वारा आकर्षित होकर ही मानो दर्शनों से हमें तृप्त करने के लिये इस भूमण्डल पर पधारे हैं। ऐसी अवस्थामें भला कौन इसे प्रतिमा कहेगा। यह तो साक्षात भगवान ही है। इतना हो जाने पर भी प्रतिमा या मूर्ति कहते रहने का अर्थ है कि आपने पंच कल्याणक विधान को भी एक उत्सव के रूप में देखा है, सिनेमा वत् सच्ची घटना के रूप में नहीं।

विशेषत: वीतरागताके कारण वास्तवमें जीवित भगवान व उनकी प्रतिमाकी मुद्राओंमें कोई अन्तर भी प्रतीत नहीं होता क्योंकि समाधिस्थ योगी जीवित होते हुए भी जड़वत् निष्क्रिय ही होते हैं। यदि दर्शक को यह पता न हो कि यह प्रतिमा है तो अन्धेरेमें देखनेपर आप ही बताइये कि वह उसे जिवित समझकर दर्शन करेगा या जड़ समझकर। बस क्यों नहीं उसी भावका प्रयोग करके उसे जीवित ही देखें। आंखों द्वारा जड़ दीखनेके कारण ही दर्शनों में वह प्रेम व भक्तिभावपूर्ण रस जागृत नहीं होता, जो दर्शनोंके फल रूपसे शास्त्रोंमें बताया गया हैं। भावों द्वारा देखनेपर तो यह जीवित भगवान ही दिखाई देंगे, और हृदय में यही भक्ति व प्रेम जागृत हो जायेंगे जो कि जीवित के प्रति होते हैं। इसलिये भावोंका प्रयोग करके इन्हें भगवानके रूपमें देखिये प्रतिमाके रूपमें नहीं, इन्हें भगवान ही कहकर सम्बोधन कीजिये प्रतिमा कहकर नहीं, भगवानवत् ही इनके साथ सकल व्यवहार कीजिये प्रतिमावत् नहीं। यह भी एक विज्ञान है, अध्यात्म विद्या है, कला है।

---

७. भावपूजा विधि

भक्ति व प्रेम में ओत प्रोत होकर प्रार्थना कीजिये, मानो जीवित भगवान ही समक्ष बैठे हों, आप देखेंगे कि आपका हृदय शान्त निर्विकल्प, निर्द्वन्द व आनन्दमग्न होता जा रहा है। एक क्षणके लिये अत्यन्त तन्मय हो जानेके कारण आप अपनी सत्ता को भूल जायेंगे। यही है अहकारका नाश और भगवत्ताका उदय। इसे ही कहते हैं स्वसवेदन द्वारा आत्मदर्शन।

पूजन विधिमें जल, चन्दन आदि पदार्थ या सामग्री तो मनकी चंचलताको रोकने तथा भाव जागृतिके माध्यम मात्र के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। इन्द्रयाधीन दृष्टीवाले को ही उसकी महिमा होती है, वास्तव में उसकी नहीं बल्कि उन भावोंकी ही महिमा है, जिनके कि वे पदार्थ प्रतीक हैं। यथा—

१. भगवान के दर्शनोंसे अपने अन्दरमें, जन्म जरा मरणसे अतीत स्व-शुद्धतत्वकी प्रतीति हो जाने के कारण, जिस अपूर्व शीतलताका भाव होता है, उसीका प्रतीक 'जल' है, क्योंकि जगतमें शीतलता के लिये इसका प्रयोग होता है। इसलिये हे प्रभु ! जन्म मरणसे अतीत मेरा शुद्ध, स्वरूप ही मुझे प्राप्त हो या प्रगट हो, ऐसी भावपूर्ण प्रार्थना करते हुए भगवानके चरणोंमें जलधारा छोड़ी जाती है।

२. इसी प्रकार भवभवान्तरका अन्तर्सन्ताप शान्त करनेवाले किसी अपूर्व अध्यात्म भाव की जागृति के लिये 'चन्दन' से;

३. सशरीर विनाशी पर्यायोंसे परे शुद्ध अक्षय रूपकी प्राप्तिका भाव जागृत करने के लिये 'अक्षत' से;

४. और विषयोपभोगकी तीव्र कामना व वासनाको जीतकर अत्यंत शान्त, सुकोमल, सुन्दर व सौरभपूर्ण अन्तर्चेतनाको जागृत करनेकी भावनाके लिये पुष्पसे भगवानकी पूजा की जाती है।

५. प्रभुकी शान्त मुद्राके दर्शन करने से क्षण भरके लिये अनादि कालीन विषयबुभुक्षा शान्त हो जाती है, और शुद्ध तत्वके मधुर आस्वादमें तन्मय हुआ उपासक कुछ देरके लिये अपनेको भूल जाता है। इसलिये क्षुधा विनाशक मधुर नैवेद्य निवेदन किया जाता है।

६. जगतके सभी दृष्ट पदार्थ विनाशीक होने से असत् हैं। फिर भी अन्धवत् इनमें सत्की प्रतीति होनेके कारण इष्ट-अनिष्ट व मेरे-तेरेपनेके द्वन्दात्मक भाव नित्य हृदयमें उत्पन्न होते रहते हैं। बुद्धिमें सत् तत्वप्रकाश न होना ही इस प्रकारकी मिथ्या प्रतीतियोंका कारण है। मोहग्रसित होनेके कारण ऐसी बुद्धि मोहान्धकारसे आच्छन्न है। भगवद्दर्शनसे बुद्धिमें तत्व-प्रकाश जागृत होता है, असत् पदार्थोंसे लक्ष्य हटकर क्षण भरको शुद्ध चेतनका आनन्दपूर्ण अन्तर्वेदन होने लगता है। मोहान्धकार नाशक इस अन्तर्प्रकाशकी जागृतिकी भावनासे ही भगवान के चरणोंमें दीपक अर्पण किया जाता है।

७. कर्मों, संस्कारों या वासनाओंको जलाकर उर्ध्वगामी तथा सुरभिपूर्ण अन्तर्भाव की जागृति की भावनासे धूपायन निवेदन किया जाता है, क्योंकि स्वयं जलकर सुगन्ध उत्पन्न करना इसका स्वभाव है।

८. समस्त कर्मों या संस्कारों के बन्धन से मुक्त अपनी स्वतंत्र सत्ताकी प्रतीति ही मोक्ष है, और वही देव दर्शनका परम्परागत चरमफल है। इसे प्राप्त करनेकी अतीव उत्कंण्ठासे फल द्वारा और निर्विघ्न उस परमपदमें स्थित रहनेकी भावनासे अर्घ्यं द्वारा अर्चना की जाती है।

९. ये सब एक मुमुक्षके वे पारमार्थिक भाव हैं, जो अत्यन्त शीतल, शान्त, मधुर, दीप्त, निर्विकल्प, निर्द्वन्द व सरस होनेसे इसे इष्ट हैं ? यही उसका जीवरसार व जीवनाधार होने से वह मूल विद्या है, जिसकी प्राप्तिके लिये कि उसमें इस कृत्रिम उपायकी शरण ली थी। भाव-प्रयोग द्वारा यह कृत्रिम व असत् अध्यापन भी उसके लिये स्वाभाविक व सत् है। रूढ़ियोंको छोड़कर, इनके पीछे छिपे विज्ञान व भाव को यथार्थतः अवधारण करें। या करने का अभ्यास करें, तो साक्षात भगवद्रसकी प्राप्ति हो जानेसे मूर्ति पूजन सम्बन्धी सब शंकायें शान्त हो जायें, और निःसन्देह सत्तत्वकी प्राप्ति करके आप कल्याण-भाजन बन जायें।

———

८. सदाचार

जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, विद्याध्ययन विधि में पुस्तक का ही अध्ययन पर्याप्त नहीं है, भावों का अध्ययन व विकास भी यहाँ समान स्थान रखता है। भावशुद्धि के बिना पुस्तक का ज्ञान और विशेषत: अध्यात्म ज्ञान जो कि केवल भावात्मक होता है, प्राप्त करना असम्भव है। खाना, पीना, पहनना, रहना, चलना, फिरना, बोलना चालना तथा अन्य दैनिक क्रियायें व्यक्ति के आचार का निर्माण करती हैं, और भाव उसके विचार का। आचार का विचारपर और विचार का आचार परस्पर घनिष्ट प्रभाव पड़ता है, जिसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। उक्ति भी है कि 'जैसा खावें अन्न वैसा होवे मन' और 'जैसा पीवे पानी वैसो बोले बानी'। अत: भाव-शुद्धि के लिये व्यक्ति को दैनिक आचार विचारों के प्रति अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता हैं। जैसे कि रोगी को औषध सेवन व अपथ्य वर्जन दोनों एक ही समय आवश्यक हैं, वैसे ही इस पवित्र भावात्मक विद्या के विद्यार्थी को भावों का अध्ययन व आचार शूद्धि दोनों एक ही समय आवश्यक है। जिस प्रकार अपथ्यसेवी रोगी पर औषध असर नहीं करती उसी प्रकार दुराचारी व्यक्ति को वह विद्या प्राप्त नहीं होती।

विलास-प्रधान पश्चिमी सभ्यताके इस युग में जिस प्रकार माडर्न स्कूलों के बच्चों में पुस्तकी ज्ञानकी अपेक्षा अंग्रेजी बोलचाल व आचारके संस्कार उत्पन्न करानेके लिये ही अधिक जोर दिया जाता है; उसी प्रकार अध्यात्म-प्रधान भारतीय सभ्यताके प्राचीन युगमें सदा ही बच्चोंमें पवित्र भारतीय आचार विचारोंके संस्कार उत्पन्न

किये जाते थे। संस्कार ही वास्तवमें व्यक्ति के व्यक्तित्वके निर्माता हैं। अंग्रेंजी संस्कारवाले आजके बच्चे व युवक जिस प्रकार हृदयसे विलासी व अंग्रेज़ हैं, उसी प्रकार भारतीय संस्कार वाले पहले बच्चे व युवक हृदय से अध्यात्मिक व भारतीय हुआ करते थे। संस्कारोंपर ही किसी देश की सभ्यताका आधार है। यही कारण है कि स्वतंत्र होते हुए भी आज भारत देश एक प्रकार से दास ही है, क्योंकि यहांकी जनताका हृदय अंग्रेज़ बन चुका है।

भारतीय अध्यापन विधि के अनुसार विद्यार्थी को ब्रह्मचय से रहना होता था। ब्रह्मचर्य का अर्थ यहां मात्र स्त्री-सहवास का त्याग नहीं, बल्कि सादा व सात्विक जीवन बिताना है। सादा व मोटा खाना, अभक्ष्य भक्षण न करना, सादा व मोटा पहनना, फैशन न करना, सर मुंडाकर सरपर शिखा और गले में यज्ञोपवीत धारण करना, इष्ट व मिष्ट बोलना, कुसंगति में न बैठना, व्यसनों से दूर रहना तथा धर्म सेवन करना······इत्यादि सभी बातें ब्रह्यचर्य-वास के अन्तर्गत हैं। भले ही आज के विलासी मानव को यह सब सुन कर हंसी आवे और वह इसे ठुकरा दे, पर इसका दुष्परिणाम हम हबके समक्ष है। व्यक्ति अधिकाधिक आचारविचार हीन व स्वार्थी बनता जा रहा है। नैतिकता व मानवीयता का पतन, भूठ, चोरी, बेईमानी, घूस, ब्लैकमार्केट, व्यभिचार, हत्या, डाके, धोखेबाज़ी आदि अनेकों आसुरी शक्तियों ने सब ओर से देश को बान्धकर यहां अराजकता फैला दी है। राजा भी डाकू और रक्षक भी भक्षक है। ब्रह्मचर्यवास द्वारा व्यक्ति की आचार शुद्धि करके, इसमें नैतिकता, प्रेम व, पर-दुःख कातरता, बलिदान, सेवा, त्याग आदिके अनेकों संस्कार व सद्गुण जागृत किये जाते थे। इस विद्या का अध्ययन प्रारम्भ करने के पहले आचार-शुद्धि अवश्य करणीय है।

इस छोटे से लेख में आचार विचार के सम्बन्ध में सब कुछ बताया जाना तो सम्भव नहीं, हां कुछ मोटी मोटी दो चार आवश्यक

बातें अवश्य बताई जानी इष्ट हैं, जिनको पाले बिना व्यक्ति तीन काल में भी सच्ची विद्या-प्राप्ति का पात्र नहीं बन सकता। वे बाते हैं —मांस भक्षण, चर्म प्रयोग, व्यभिचार, सिनेमा, धूम्रपान व मधपान का त्याग, तथा शाकभोजी होना, खद्दर व देशी सादे वस्त्र पहनना, कुर्ता धोती पहनना कोट पैण्ट नहीं, अशलील भाषण न करना, अशलील गाने न गाना, सदा इष्ट मिष्ट व शिष्ट बोलना, शरीर को प्रमादी व आराम तलब न बनाना, सदा इससे दूसरों की सेवा करना—इत्यादि।

जिव्हालौलुप वर्तमान के विवेक हीन विलासी युग में मांस अण्डा व मछली का अधिकाधिक प्रचार बढ़ता जा रहा है, बिना इस बात का विचार किये कि इस प्रकार का आहार न्याय है या अन्याय। जिव्हा के स्वाद के सामने उसे न्याय अन्याय का विचार करने की सुध कहां। भौतिक स्वाद व भौतिक सुन्दरता ही उसका न्याय है उसे क्या पड़ी है यह विचारने की कि जिस मांस को वह चटखारे ले लेकर खाता है, और जिस चमड़े की सुन्दर वस्तुओं से वह अपनी विलासताकी प्यास बुझाता है, उसकी उत्पत्ति किन्हीं बेजबानों के प्राण लेकर होती है। उसके अन्दर उन मूक भोले निरपराध प्राणियोंकी ठण्डी आहें व चित्कारें छिपी हैं, जो अदृष्ट रहती हुई धीरे धीरे अन्दर ही अन्दर उसको, उसकी संस्कृति को और उसके देश को स्वाहा कर रही हैं। उसके पास आज दया नाम की वस्तु ही कहां हैं, जोकि उसको यह सब स्पर्श करे। उसके पास तो है आज स्वार्थ-पोषक अनेकों कुतर्क—सब चीजें मनुष्य के लिये ही बनी हैं, स्वादिष्ट होने के कारण मांस उसका भोज्य हैं, विटामिन का कोश होने के कारण वह स्वास्थ्य-प्रद है, अण्डे में जान नहीं, शाका-हारी को भी बनस्पति की हिंसा करनी ही होती है—इत्यादि।

भैया ! यदि सब चीजे मनुष्यों के लिये ही बनी हैं तो कुत्ते के मांस व विष्टा को भी वही स्थान प्राप्त होना चाहिये, जो अन्न या मांस को है, तथा माता व पुत्री को भी वैसा ही समझा जाना चाहिये

जैसा कि पत्नी को। स्वाद ही यदि तेरे भक्ष्याभक्ष्य विषयक विवेक की कसौटी है, तब तो मनुष्य का मांस ही तेरा भोज्य होना चाहिये क्यों कि वही सबसे अधिक स्वादिष्ट है। विटामिनों की अधिकता ही यदि परीक्षा का आधार है तो अपने ही रक्त से उत्पन्न तेरी अपनी सन्तान का मांस ही तेरे लिये अधिक स्वास्थय-प्रद होगा, क्यों कि उसके सर्व विटामिन तथा उनका अनुमान तेरे शरीर को सर्वाधिक अनुकूल पड़ेगा यदि यहां से विवेक तेरा हाथ रोकता है तो उसी विवेक का प्रयोग मूक पशुओं के माँस के प्रति भी क्यों नहीं करता। यदि इसी लिये उन पर विवेक लागू नहीं करता कि उससे तुझे कोर्ट में जाकर केस करने का तथा लड़ाई आदि का भय नहीं है, तो साधु सन्यासियों या जंगली गरीब आदमियों से भी तुझे वैसा कोई भय नहीं है।

भैया ! विवेक तेरा स्वभाव है। तु इसका तिरस्कार मत कर। पशु भी अपने स्वाभाविक विवेक को नहीं छोड़ते। जो शाकाहारी हैं वे सदा शाकाहारी और जो मांसाहारी हैं वे सदा मांसाहारी ही रहते हैं। अपनी मर्ज़ी से वे प्राकृतिक नियम को भंग नहीं करते। तुझे बुद्धि इस लिये नहीं मिली है कि तू इसका प्रकृतिका ही विरोध करने के प्रति काम में लावे, बल्कि इसलिये मिली है कि प्रकृतिकी व्यवस्था में सहायक हो। प्रकृतिने तुझे दूसरों का भक्षक नहीं रक्षक बनाकर भेजा है, अतः उन प्राणियों की रक्षा करने में ही बुद्धि का प्रयोग न्याय है, जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते। प्रकृतिने तुझे शाकाहारी बनाया है, मांसाहारी नहीं। इस बातकी सिद्धी इस पर से स्पष्ट है कि तेरे नख व दान्त आदि अंग बन्दर आदि शाकाहारी पशुओंकी भांति चपटे हैं, सिंह आदि मांसाहारियों की भांति तीखे नहीं।

मांसकी भांति ही चर्म-प्रयोगको भी समझना चाहिये, बल्कि उससे भी कुछ अधिक, क्योंकि मांस उत्पादनकी अपेक्षा चर्म उत्पादनमें पशुकी हत्या सहस्रगुणी अधिक निर्दयता से की जाती है। काश

बाज़ारमें जाकर बढ़िया क्रोम की अथवा काफ़ लैंदर की सुन्दर या मुलायम वस्तुयें खरीदने से पहिले यह जान लेते कि उनकी उत्पत्ति कसे होती है। माँसके लिये तो पशुको एक झटके में काट देना ही पर्याप्त है, परन्तु चमड़की उत्पत्ति के लिये उसे जीवित को ही स्टीमसे झुनसना, बेंतोंसे खुब पीटना और पीछे जीवितकी ही खाल उधेड़कर लोथड़ेको तड़फता छोड़ देना होता है, क्योंकि ऐसा करनेसे ही खालमें रक्तका संचार बढ़ जाने के कारण उसमें नर्मी आती है। काफ़ लैंदर तो गाय के गर्भस्थ बछड़े की जीवित खाल उधेड़ने से बनता है। स्थानाभावके कारण चमड़ा बनानेकी सर्व प्रक्रियाओंका कथन करना यहा सम्भव नहीं है। इतनाही कहना पर्याप्त हैं कि जिसे सुनने मात्रसे हृदय वाले व्यक्ति के रोंगटे खड़े हो जाते हैं, उसका प्रयोग करने वाले हृदय शुन्यता व्यक्तियोंकी शक्तिको धन्य है। यहां यह बता देना आवश्यक है कि यह चमड़ा केवल जूते बनानेके ही काम आता हो सो बात नहीं है। आजका मानव एड़ीसे चोटी तक चमड़ेसे ढका हुआ है। जूते, टोपी, जर्कन, नर्म नर्म फ़रके लेडीज़ कोट व ब्लैंकेट आदि दस्ताने, सूटकेस, अटेचीकेस, होलडोल, कनवैंसिग बैग, मनी बैग, कैमरा बक्स, ट्रांजिस्टर बक्स, थर्मस केस, मोटर लारियोंकी सीटें और कहांतक कहूं, जीवनकी सर्व आवश्यकताओं में आज चमड़ेका प्रयोग आवश्यक हो गया है।

तनिक यह तो विचारिये कि पशुओं और विशेषत: गोमाताकी इस निर्दय हत्या तथा देशमें मशीनी बूचड़खानोंके प्रचारका उत्तर-दायित्व किसपर है, हत्यारोंपर या आपपर, जिसके लिये कि यह सब हत्याकाण्ड हो रहा है। एक ओर गोवध निषेध आंदोलन चलाना और दूसरी ओर मांस व चमड़ेकी मांग करना, ये दोनों विरोधी बातें कैसे सम्भव हों। मांस व चमड़ेके प्रयोगका त्याग ही मूलमें जाकर गोरक्षा है। इससे भी अधिक आश्चर्य तो उनकी बुद्धि पर है जो विद्यध्ययन

जैसे पवित्र उद्देश्यकी बात करें और अपने आचार तथा व्यवहारमें इतने निर्दय, हिंसक व हृदय-शून्य बने रहें ।

पशुवध-बन्द कर देने से उनके लिये चारेकी समस्या खड़ी हो जायेगी, यह तर्क भी पोच है, क्योंकि सब जीव अपना अपना प्रारब्ध अपने साथ लाते हैं । भले ही आप इस पर विश्वास न करें, परंतु यह तो आप देख ही रहे हैं कि जितने बन्दर व पशु मारकर आप अन्न व खाद्य बचाते हैं, उससे कई गुणा अधिक प्राकृतिक प्रकोप अर्थात आन्धी, तूफान, अति वृष्टि, अनावृष्टि आदिमें स्वाहा हुआ जा रहा है । 'वन्दा जोड़े पली पली और राम मुन्धावे कुप्पे' वाली उक्ति चरितार्थ हो रही है ।

अब लीजिये मैथून व व्यभिचारके सम्बन्धमें विचार कीजिये । वेश्या गमन आदि व्यभिचार सेवनसे बुद्धिपर कितना महान अन्धकार छा जाता हैं, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं । विषय-सेवन कालमें यद्यपि कुछ सुखसा प्रतीत होता हो, पर पीछे से उसका क्या परिणाम होता है, यह सर्वानुभूत तथ्य है । मानसिक अन्धकार, ग्लानि, शारीरिक व इन्द्रिय-शक्तिकी क्षीणता, शीघ्र बुढ़ापा आना आदि व्यक्तिगत दुष्परिणामोंके अतिरिक्त देशमें व्यभिचार प्रवृत्तिका प्रसार, जन संख्यामें वृद्धि, फलस्वरूप भयंकर खाद्य समस्या —इत्यादि, इस व्यसनके महान दोष सर्व परिचित हैं । 'मिली प्लैंनिंग सें जनसंख्या-वृद्धि रोकना इसका ठीक उपाय नहीं, बल्कि ब्रह्मचर्यको प्रचार ही है, क्योंकि ऐसे कृत्रिम उपायों के प्रसारसे व्यभिचार इतना बढ़ता जा रहा है कि कोई भी यह नहीं कह सकता कि कौन लड़का या लड़की आज पवित्र है । स्कूल कालेजके पवित्र विद्याकेन्द्र इस व्यसन के अड्डे बन चुके हैं । सिनेमामें या चोराहोंपर, दिन में या रातमें, एकान्तमें या सबके समक्ष सर्वत्र व्यभिचार का

बाज़ार गर्म हैं, जिससे देशमें अनीति व अमानवीयता दिनोंदिन बढ़ रही है।

सिनेमा तो आजके युगका सबसें बड़ा व्यसन है ही, क्योंकि जगतके सर्व ही अपराध सिखानेका यह सबसे बड़ा केन्द्र व सरल साधन हैं। अन्य देशमें प्रचलित अपराधोंका भी इसके द्वारा आज खूब जोर शोर से प्रचार हो रहा है। विलासता व फैशनकी अभिवृद्धि उद्यण्डता व अशिष्टता, मांसाहार, मद्यपान, व्यभिचार, चोरी डाके, जेबकतरी व कतलके नये नये ढंग, लड़के लड़कियोंको भगाना आदि चित्र विचित्र अपराध आज सिनेमाके अतिरिक्त कौन सिखा रहा है। इसे यदि अपराधोंका सस्ता या नि:शुल्क महा विद्यालय कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी।

धूम्रपान व मद्यपान भी आजके दुर्व्यसनोंमें काफी आगे बढ़ चुके हैं। क्या कोई भी बता सकता है। कि इनसे व्यक्तिको कुछ भी लाभ हो। धार्मिक हानिके अतिरिक्त आर्थिक व शारीरिक हानि भी कम नहीं। अपनी आयका सबसे बड़ा भाग इन व्यसनोंकी भेंट हो जानेसे घरेलू खर्च के लिये पैसा न बचना, क़र्ज होना, घरमें क्लेश तथा उसकी पूर्तिके लिये झूट, अन्याय व अनीति का व्यापार करना आदि कितनी बुराइयां हैं। साथ साथ कलेजेको जलाकर अथवा बुद्धिको भ्रष्ट करके शरीरको अस्वस्थ व प्रमादी बना देना इन व्यसनोंका पुरस्कार है।

अत: एक विद्यार्थीको सदा इनसे दूर ही रहना चाहिये। इनकी पुष्टी के लिये तर्क उठाना तथा इनकी कमर थपथपाना इस बातका लक्षण है कि विद्याध्ययनकी सच्ची रुचि नहीं। विद्याध्ययनके और विशेषत: अध्यात्म विद्या के अत्यन्त विरोधी होने से, विद्याध्ययन के प्रस्तुत अध्यात्मिक प्रसंगमें इनका सर्व प्रकारेण त्याग ही योग्य है।

———

६. कर्म सिद्धान्त (संक्षिप्त)

१. कर्म सामान्य परिचय; २. संस्कार सामान्य परिचय; ३. कर्म की विशेषतायें; ४. कर्म फलदान क्रम; ५. कर्म फलदान की सिद्धि; ६. कर्म सिद्धान्त का संक्षिप्त सार ।

कर्म सामान्य परिचय } अरे चंञ्चल मन ! बहुत दुखी कर लिया है तूने, क्या अबभी कुछ करना शेष है । जीवन के पीछे जीवन आये और चले गये परन्तु तूने अपनी कुटेव न छोड़ी । अब प्रभुके द्वारपर आया है । क्या अब भी शान्त न होगा । देख! तेरी क्षुब्धताके नीचे जीवनका सागर पड़ा ठाठें मार रहा है । भाई! अब तक तो न समझा, पर अब प्रभु प्रकाश पाकर तो समझ जा । मैं तेरी मिन्नतें करती हूँ ।

मनकी गति कितनी विचित्र है, और वचन व शरीरके साथ तथा बाह्य वातावरण के साथ कितना घनिष्ट नाता हैं, यह सब बातें कौन नहीं जानता । अर्न्तध्वनि व संस्कारका परिचय भी पहले शान्तिपथ प्ररदर्शनमें दिया जा चुका है अब कर्मका भी संक्षिप्त सा सिद्धांत यहां प्रगट कर देना योग्य है ताकि अगले प्रकरणोंमें या अन्य किसी भी धर्मग्रंथमें यह शब्द पढ़कर आप चक्करमें न पड़ें । यद्यपि कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त वहुत जटिल व विस्तृत है। गुरु सानिध्यके बिना समझा नहीं जा सकता, परन्तु फिर भी जितना कुछ सम्भव है वतानेका प्रयत्न करती हूँ । यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म है क्योंकि इसका सम्बन्ध अन्तष्करण से है, इसलिये इसे समझने के लिये आप अपना अन्तष्करण पढ़नेका प्रयत्न करना । भारत के सभी दर्शनकारों ने इस

सिद्धान्तको स्वीकार किया है, और सभीका मन्तव्य इस विषयमें लगभग समान है, परन्तु इस सिद्धांतका गहनतम अध्ययन जैन दर्शनकारोंकी ही देन है । वैदक दर्शनोंमें योग दर्शनकारों व कर्म मीमांसा दर्शनकारोंने भी इस विषयका पर्याप्त मंथन किया है। मैं सभी का संक्षिप्तसा सार यहां प्रस्तुत करनेका प्रयत्न करती हूँ ।

कर्म शब्दका अर्थ है कार्य । अर्थात् जो कुछ भी काम हम नित्य मन वचन व कायसे करते हैं, उसको ही कर्म कहते हैं । जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मन वचन व कायके इस कर्म से ही अन्तष्करणमें नवीन नवीन संस्कारकी उत्पत्ति हुआ करती है, तथा जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायेगा इस संस्कार से प्रेरित होकर ही व्यक्ति मन, वचन, कायसे नये नये कर्म किया करता है इसलिये इस संस्कारको भी 'कर्म' कहा जाता है । इसका साक्षात्कार केवल चेतनकी चित्तवृत्ति में अर्थात् अन्तष्करणमें किया जा सकता है, इसलिये इसे चेतन कर्म या भावकर्म कहते है ।

चेतन के अतिरिक्त एक जड़कर्म भी होता है, जिसे जैन दर्शनकार कार्माण शरीर के नामसे तथा वैदिक दर्शनकार सूक्ष्म शरीरके नामसे कहते हैं । यह कार्माण या शूक्ष्म शरीर इस दृष्ट स्थूल शरीरके पीछे बराबर बैठा हुआ बाहरमें नये नये स्थूल शरीरों और अन्दर में नये नयें संस्कारोंका निर्माण किया करता है । स्थूल शरीर यद्यपि मृत्युके समय छूट जाता है, परन्तु यह कार्माण या सूक्ष्म शरीर मृत्युके पश्चात् भी नहीं छूटता, बल्कि चेतनके साथ उसके अगले भवमें और उस अगले भवसे अगले भवमें बराबर साथ जाता रहता है । चेतन व जड़ दोनों प्रकारके कर्मोंका परस्परमें ऐसा ही सम्बन्ध है जसा कि मन व इन्द्रियोंका । परन्तु यहां मैं जड़कर्म की बातें न बताकर केवल चेतन कर्म की ही बातें बताऊंगी, क्योंकि जड़कर्म की बात अत्यन्त विस्तृत व जटिल है ।

३ संस्कार सामान्य परिचय } चेतन कर्म संस्कार का नाम है, जो अन्तष्करण में ही उत्पन्न होता है, वहां ही रहता है। इसलिये कर्म को जानने से पूर्व संस्कार का स्वभाव जान लेना योग्य है। संस्कार किस प्रकार से उत्पन्न होते हैं, यह बात सिद्धान्त रूप से यों कही जा सकती है, सवेरे से शाम तक तथा रात को सोते हुए भी हम मन, वचन व कायसे बराबर कुछ न कुछ अवश्य ही बोलते या विचार करते रहते हैं। वह कार्य तो यद्यपि तभी समाप्त हो जाता है। परन्तु उसकी छाप अन्तष्करण की चित भूमि पर अंकित होकर रह जाती है। पुनः पुनः कार्य होता रहता है। और पुनः पुनः पहली छाप पर दूसरी तीसरी आदि छाप भी पड़ती रहती है। इस प्रकार वह छाप बरावर गहरी होती चली जाती है। चित्त भूमि पर उस कार्य की इस छापका अंकित होना ही संस्कार कहलाता है। पहली दशामें यह संस्कार बहुत निर्बल होता है, परन्तु आगे आगे अधिकाधिक पुष्ट होकर अत्यंत प्रबल हो जाता है।

यह संस्कार शुभ व अशुभ दो प्रकार के होते हैं। शुभ संस्कार को पुण्य व अशुभ संस्कार को पाप कहते हैं। दान देने का संस्कार शुभ और चोरी करने का संस्कार अशुभ। शुभ व अशुभ दोनों प्रकारके संस्कारों की अनेक जातियां हैं, जिनका गिनकर संज्ञाकरण करना असम्भव है। जिस जिस जातिके कर्म व्यक्ति अपने जीवनमें करता है, उस उस जातिके संस्कार ही उसकी चित्त भूमि पर अंकित हो जाते हैं। प्रत्येक जातिका कार्य अपनी ही जातिके संस्कारको पुष्ट करता है, दूसरी जातिके संस्कार को नहीं। जैसे दान का काम देने के ही संस्कार को पुष्ट करेगा, पूजा करने के संस्कार को नहीं और इसी प्रकार चोरी करने का कार्य चोरी के संस्कारको ही पुष्ट करेगा झूठ के संस्कार को नहीं।

संस्कार उत्पन्न हो जाने का यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति को हर समय उसके अनुसार ही कार्य करना पड़ता हो अर्थात् चोरी के संस्कार वाला व्यक्ति हर समय चोरी ही करता रहता हो, और दान के संस्कार वाला व्यक्ति हर समय दान ही देता रहता हो। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि उस व्यक्ति को कुछ इस प्रकार की आदत पड़ जाती है जो अन्दर में पड़ी रहती है, और जिसका भान व्यक्ति को भी स्वयं उस समय तक नहीं हो पाता जब तक कि उसको कार्यान्वित रूप करने के लिये अनुकूल परिस्थिति पैदा नहीं हो जाती। अनुकूल परिस्थिति हो जाने पर वह संस्कार व्यक्ति के अन्तष्करण को उस प्रकार का काम करने के लिये उद्विग्न कर देता है। जैसे कि धन को देखकर चोरी का; और दरिद्री या पात्रको देखकर दानका सस्कार जागृत हो उठता है। उस संस्कार के प्रभाव से प्रेरा हुआ व्यक्ति उस उस प्रकार का काम पुन: कर बैठता है। जैसा कि चोरी के संस्कार से प्रेरित व्यक्ति दान देने के लिये उस समय बाध्य सा हुआ प्रतीत होता है अर्थात् उस उस प्रकारकी परिस्थिति प्राप्त हो जानेपर वह संस्कार जागृत होकर उस उस प्रकार ही विचारने के लिये उस उस प्रकार ही बोलने के लिये तथा उस उस प्रकार ही करने के लिये व्यक्ति को अन्तरंग में प्रेरित करता है, और तब ही वह व्यक्ति मन, वचन काय से उस प्रकार का काम करने लगता है। जब तक अनुकूल परिस्थिति नहीं मिलती तब तक वह संस्कार सुप्त सा पड़ा रहता है, जैसे कि किसी सेठ के अन्तरंग में चोरी व दान दोनों प्रकार के संस्कार पड़े हैं तो उसके पास धन होने के कारण किसी के घर में चोरी करनें का संस्कार जागृत नहीं हो पाता, और इसी प्रकार यदि उसके पास किसी दारिद्री को या समाज के प्रतिनिधियों को भी जाने न दिया जाये तो उसका दान का संस्कार भी यों ही पड़ा रहता है प्रगट होने नहीं पाता।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में आगे पीछे उत्पन्न हुए, अगणित शुभ व अशुभ संस्कार दबे पड़े रहते हैं। परन्तु बाहर में किसी को कुछ पता नहीं कि किस व्यक्ति में कौन कौन से संस्कार भरे हैं, परिस्थिति आने पर उस उस जातिके संस्कारको प्रगट होकर अपना परिचय देने का अवसर मिलता है। तब देखने वालों को यह आश्चर्य होता है कि इस व्यक्ति के द्वारा यह काम होना कैसे सम्भव हुआ ? एक चोर भी अवसर पड़ने पर विना किसी बाह्य प्रेरणा के दान देता है और एक दानी भी अवसर पड़ने पर चोरी कर लेता है, यह सब अन्दर में रहने वाले उन संस्कारो का ही फल है जो अनुकूल परिस्थिति न मिलने के कारण भीतर में दबे पड़े थे।

यह बात अवश्य है कि किसी में कोई संस्कार-विशेष प्रबल होता है और किसी में कोई संस्कार विशेष दुर्बल होता है। पुनः पुनः पुष्ट किया गया दुर्बल भी संस्कार प्रबल हो जाता है और एक दो बार ही किये हुए कृत्य का संस्कार निर्बल रहता है। प्रबल संस्कार जब जागृत होता है तो व्यक्ति से उस प्रकार का कार्य करने से रुका नहीं जा सकता, जैसे कि प्रबल चोरी के संस्कार वाला व्यक्ति धन देखकर चोरी किये बिना रह नहीं सकता। निर्बल संस्कार के जागृत होने पर व्यक्ति का अन्तष्करण चञ्चल तो अवश्य होता है, परन्तु उसे वह विवेक पूर्वक दबा लेता हैं, जैसे कि धन को देखकर कदाचित आपके मनमें भी उसे किसी प्रकार हथियालेने का भाव तो आ जाता है परन्तु उसे आप तुरन्त विवेक से दबा लेते हैं। निर्बल संस्कार वाले व्यक्ति को यदि बाहर में भी समर्थन मिल जाये तो वह काम कर भी बैठता है, जिस प्रकार कि चोरी के संस्कार को दमन रखने वाले व्यक्तिको यदि उसकी प्रेमिका पुनः पुनः उकसाये और चोरी के लिये उत्साहित करे तो वह चोरी कर भी लेता है। इसी प्रकार यदि बहुत काल तक किसी संस्कार को प्रगट होने का अवसर

ही प्राप्त न हो तो वह धीरेधीरे क्षीण होता हुआ धुल भी जाता है। जैसे कि यदि दानी को दान देने का अवसर ही न दिया जाये तो उसे फिर दान देते समय पुनः कष्ट होने लगता है। प्रवल संस्कार को इस प्रकार समाप्त होनें के लिये अधिक समय चाहिये, परन्तु निर्बल संस्कार शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

यद्यपि मृत्यू के पश्चात शरीर तो यहां ही रह जाता है, परन्तु यह संस्कार अन्तष्करण में बैठे रहने के कारण परलोक में भी व्यक्ति का पीछा नहीं छोड़ते। नवीन जन्म धारण कर लेने के पश्चात उसका कोई नया अन्त करण बन जाता हो सो बात नहीं है। वह पहले वाला ही अन्तष्करण रहता है भले ही शिशु अवस्था के कारण उसका वह अन्तष्करण या संस्कार प्रगट न हो सके। इस बात का यह प्रमाण है कि उत्पन्न होने वाले प्रत्येक बालक भिन्न भिन्न प्रकृति के होते हैं। एक ही माता के उदर से एक ही समय उत्पन्न होने वाले दो बालकों की प्रकृति भी समान नहीं होती। विना सीखे व पढ़े भी वह बालक कुछ अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करने लगता है। कोई बालक बचपन में ही क्रूर प्रकृतिका होता है और कोई दयालु प्रकृति का। किसी को कुछ विषय पढ़ने की रूची होती है और किसी को कुछ अन्य विषय पढ़ने की। अधिक वेभव में पला व्यक्ति भी कभी कभी उसमें रस न लेकर अन्तरंग में विरक्त रहता देखा जाता है, और वैराग्य धारण कर लेने पर भी कोई २ व्यक्ति किसी न किसी बहाने धन का संग्रह करता रहता है। यह सब पूर्व संस्कारों का प्रभाव नहीं तो क्या है?

जैसा कि आगे बताया जायेगा, ये संस्कार बदले भी जा सकते हैं, तथा इनकी शक्ति को हीन या अधिक भी किया जा सकता है। यहां तो इतना ही समझिये कि जैसा कर्म या कार्य कोई मन, वचन या काय से करता है, वैसे ही संस्कार उसकी चित्त भूमि पर अंकित हो जाते है, जो समय समय पर बाहर में अनुकूल परिस्थिति मिलने

पर जागृत होकर व्यक्ति को अपने अनुरूप करने के लिये प्रेरित करते रहते हैं। उनसे प्रेरित होकर वह व्यक्ति पुनः पुनः वही कार्य करता है तथा उन संस्कारों को पुष्ट करता रहता है। संस्कारों के अनुरूप कर्म करना संस्कारों का भोग या फल कहलाता है। कर्म से संस्कार और संस्कार से कर्म की यह श्रँखला बीज व वृक्षवत् अनादि जन्म जन्मातरों से बराबर व्यक्ति के साथ चली आ रही है और तब तक चलती रहेगी जब तक कि इस श्रंखला की किसी एक कड़ी को वह भंग नहीं कर लेता। यह कैसे सम्भव है यह बात आगे बताई जायेगी।

यही संस्कार का साधारण संक्षिप्त परिचय है, जिसका सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। भारतीय भाषा में इन संस्कारों को कर्म जनित होने से कर्म कहा जाता हैं और संस्कारों के सिद्धान्त को कर्म सिद्धान्त।

३. कर्म की विशेषता } मन, वचन व काम द्वारा कर्म करते समय भीतर में जो चितवृति व आत्म कम्पन या भाव तरंग उत्पन्न होती है, उसे जैनागम में आस्रव संज्ञा दी जाती है। उनसे कर्म जनित संस्कारों को जो कि अन्तष्करण में अंकित हो जाते हैं, योगदर्शन में कर्माशय संज्ञा से और जैन दर्शन में बन्ध संज्ञा से पुकारा गया है क्योंकि संस्कारों से बन्धे हुए होने के कारण ही व्यक्ति को पुनः पुनः अपने स्वभाव या धर्म के विपरीत वे वे कार्य करने पड़ते हैं।

जीव चाहे मन द्वारा, वचन वा स्थूल या सूक्ष्म शरीर द्वारा कोई कर्म करे तो उसके ये सभी संस्कार भविष्य के लिये बीज बनकर उसके भीतरी चित्तस्थल पर अंकित हो जाते हैं जो जन्मान्तरों में अनुकूल परिस्थितियों से पाल्लवित होकर पूर्ववत् नवीन कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। संस्कारों की इस प्रेरक शक्ति का नाम संस्कार फल है और इस प्रेरणा के अनुरूप चितवृति व आत्म वेदना का उत्पन्न होना फलभोग कहलाता है। इन फलों की अपेक्षा कर्मों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है — एक दृष्ट जन्म वेदनीय और दूसरा

अदृष्ट जन्म वेदनीय। जिनकर्मों का फल भोग इसी जन्म में हो जाता है वे दृष्ट जन्म वेदनीय है, और जिन कर्मों का फल भोग इस जन्म में न होकर जन्मान्तर में होता है वे अदृष्ट जन्म वेदनीय कहलाते हैं। कर्मों का भोग कैसे होता है, यह बात आगे बताई जायेगी। जन्मान्तरों मे केवल इस ही जन्म के संस्कार साथ जाते हों सो बात नहीं है। अनेक पूर्व जन्मों के संस्कार समूहधारी प्रवाह रूप से जन्मान्तर को प्राप्त होते हैं। इस जन्म में उदय होने वाले कर्म संस्कारों में न जाने कितने, लाखों, हजारों व सैंकड़ों वर्ष पुराने जन्मों के संस्कार भी शामिल हैं। इन सबके फलों का जन्मान्तर में भोग होता रहता है। जब तक यह संस्कार अपना फल देना शुरू नहीं करते तब तक अदृष्ट जन्म वेदनीय कहलाते हैं, और जब वे फल उत्पन्न करने लगते हैं तब दृष्ट जन्म वेदनीय कहलाते हैं। अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्मों को जैन दर्शनकर 'सत्ता' शब्द से कहते हैं, और दृष्ट जन्म वेदनीय को 'उदय' या विपाक शब्द से। योगदर्शनकार इसे विपाक ही कहते हैं। तीव्र शक्ति द्वारा किये गये कर्म तीव्र सस्कारों की उत्पत्ति करते हैं और मन्द शक्ति के द्वारा किये गये कर्म मन्द संस्कारों की उत्पत्ति करते हैं। या सिद्धान्तकि भाषा में यों कह लीज़िये कि तीव्र आस्रव से तीव्र बन्ध और तीव्र आश्रव से मन्द बन्ध होता है। क्यों कि कर्म करने का नाम ही आस्रव है और संस्कार बनने का नाम हा बन्ध है। पुण्य आस्रव से पुण्य बन्ध और पापास्रव से पाप बन्ध होता है अर्थात पुण्य कर्म से पुण्य का संस्कार और पापकर्म से पाप का संस्कार होता है। पुण्य व पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों व उनके संस्कारों की शक्तियां तीव्र, मध्यम व मन्द भेद से तीन तीन प्रकार की कही जा सकती हैं। इन तीनों शक्तियों की तीव्रता व मन्दता के अन्तंगत अनन्तों भेद हो जाते हैं। इन कर्मों व उनके संस्कारों को अथवा आस्रव व बन्ध की इन तीव्र मन्दादि शक्तियों को जैनागम में

'अनुभाग या रस संज्ञा' दी गई है। सो ठीक ही है, क्योंकि मीठे या तीखे पादर्थों के रस अधिक व हीन हुआ करते हैं। कोई पदार्थ अधिक मीठा होता है, और कोई कम, और इसी प्रकार कोई अधिक कड़ुवा होता है और कोई कम। मीठे रस का दृष्टान्त पुण्यकर्म के अनुभाग के लिये दिया जाता है।

संयम शक्ति द्वारा योगी जनों को कुछ ऐसी अलौकिक शक्तियां सिद्ध हो जाया करती हैं जिस के द्वारा वे अपने अदृष्ट कर्मों को अर्थात् सत्ता में पड़े कर्म को दृष्ट कर देने में अर्थात् उदय में ले आने में समर्थ हो जाते हैं। और इसी प्रकार दृष्ट को अदृष्ट कर देने में भी समर्थ हो जाया करते हैं। अदृष्ट को दृष्ट करने का अर्थ है कि वह कर्म जो आगे जाकर फल देने वाले थे वे वर्तमान में ही फलोन्मुख हो जाते हैं। इसी प्रकार दृष्ट को अदृष्ट करने का अर्थ यह है कि वह कर्म जो वर्तमान में फल देने वाला है, पीछे हटकर फल देने वाला बन जाता है। पिछले कर्म को आगे ले आने का नाम 'आकर्षण' है, क्योंकि इससे उस कर्म की अवधि घट जाती है और आगे के कर्म को पीछे हटा देने का नाम 'उत्कर्षण' है, क्योंकि इस प्रकार कर्म की अवधि बढ़ जाती है। इस पर से यह सिद्ध होता है कि कर्म की अवधि घटाई बढ़ाई भी जा सकती है।

योगी जन ही ऐसा कर सकते हों सो बात नहीं है साधारण जन भी नित्य ऐसा किया करते है। जिस दिशा में भी व्यक्ति तीव्र पुरुषार्थ करता है, उस दिशा सम्बन्धी उसके अदृष्ट कर्म खिचकर वर्तमान में ही फल देने लगते हैं। जैसे कि चोरी के व्यसन में अधिक फंसे हुए व्यक्ति के चोरी सम्बन्धी सर्व अदृष्ट कर्म खिचकर आज ही फल देने को उद्यत हो जाते हैं, और इसी प्रकार बहुत बड़े निःस्वार्थ दानी के दान सम्बन्धी कर्म भी।

इतना ही नहीं कर्म संस्कारों की जाति को बदला भी जा सकता है। यदि किसी प्रकार कोई व्यक्ति अपने संस्कार से विरुद्ध

कोई कार्य करने लगे तो उसका वह संस्कार बदल कर उल्टा हो जाता है, जैसा कि पहले दृष्टान्त में कञ्जूस व्यक्ति के संःकार बदल कर उल्टा दानी का संस्कार उत्पन्न करके दिखाया है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कुसंगति में पड़ जाये तो हम देखते हैं कि उसके सब शुभ संस्कार बदल कर अशुभ हो जाते हैं और यदि सत्सगति में बैठने लग जाये तो बुरी से बुरी आदतों का भी वह त्याग कर देता है। उसके सब अशुभ सस्कार बदल कर शुभ हो जाते हैं। यह बात ठीक है कि कुसंगतिका प्रभाव मानव पर जितनी जल्दी पड़ता हैं उतनी जल्दी सत्संगति का प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये खोटे संस्कार तो बहुत जल्दी उत्पन्न हो जाया करते हैं परन्तु अच्छा संस्कार बहुत देर में। या यों कह लीजिये कि शुभ संस्कार तो बहुत जल्दी बदलकर अशुभ बनजाते हैं, परन्तु अशुभ संस्कारों का शुभ रूप में बदलना कुछ कठिन पड़ता है। इसका कारण यह है कि अशुभ संस्कारों को पहिले से ही सदा पुष्ट किया जाता रहा है, इसलिये उनकी शक्ति या अनुभाग शुभ संस्कारों की अपेक्षा, जिनका कि अभ्यास बहुत अल्प किया गया है बहुत अधिक है। संस्कारों के इस प्रकार बदला जाने को संक्रमण कहते हैं।

सर्व ही संस्कार बदल सकते हों सो बात नहीं है। कोई कोई कर्म संस्कार ऐसे प्रबल होते हैं कि लाख यत्न करने पर भी वे एक जन्म में नहीं बदलते जैसे कि एक भील के बालक को यदि ब्राह्मण के घर में रखकर पाला जाये तो उसके अनेकों गन्दे असभ्य संस्कार सफ़ाई परख सभ्य संस्कारों से बदले जा सकते हैं, परन्तु उसकी सहज क्रूर कार्य करने की हिंसात्मक वृत्तियों को बदलना आसान नहीं है। भले ही उस वातावरण में रहते हुए उसे हिंसा करने का अवसर भी न मिलता हो, परन्तु अन्तष्करण में तो यथावसर उस प्रकार की वृतियें उठा ही करती हैं। ऐसे कर्म संस्कार बदले नहीं जा सकते उनको 'निकाचित्' कहते हैं।

कर्म संस्कारोंका जिस प्रकार उत्कर्षण, अपकर्षण व संक्रमण किया जा सकता है उसी प्रकार उनका उपशम व क्षय भी किया जा सकता है। उपशम कहते हैं थोड़ी देर के लिये कर्म का वेग रोक देना और क्षय कहते हैं उस कर्मको जड़ से ही विनष्ट कर डालना। यदि कोई किसी वेश्या व्यसनी व्यक्ति को उसके वातावरण से हटाकर अन्य किसी ऐसे वातावरण में रखा जाये जहां वेश्यायें न हों, और वहां जाकर उसे कोई अच्छा सा व्यापार मिल जाये, जिस में उसे काफी धन की प्राप्ति होने लग जाये, और जिस में वह इतना व्यस्त हो जाये, कि उसे वेश्या की याद करने का ही अवकाश न मिले तो धीरे २ उसका वेश्या लम्पटपना शान्त हो जाता है। यद्यपि पहले पहल तो वह अन्दर ही अन्दर वेश्या के लिये बेचैन रहता है, पर आगे जाकर उसे उसका विचार भी नहीं आता। तब कहा जाता है कि इसका वह संस्कार दब गया है, परन्तु मरा नहीं है, क्योंकि वेश्या का साक्षात संसर्ग प्राप्त होने पर वह पुन: भड़क उठता है। संस्कार के इस प्रकार दबने का ही नाम उपशम हैं। प्रत्येक अधर्म या पाप के संस्कार को वातावरण बदलकर या बाहर से कुछ वस्तुओं का त्याग करके कुछ धार्मिक क्रियाओंका आश्रय लेने से शान्त किया जा सकता है। परन्तु क्षय करना कुछ कठिन है। उसके लिये योगी जन की संगती में रहना, विशेष प्रकार के अध्यात्म विचारों का मनन, ध्यान, अध्ययन, तपश्चरण व कठिन २ योगादि धारण करना पड़ता है, जिससे कि कर्म संस्कार समूल विनष्ट हो जाते हैं जो दग्ध बीजवत् फिर अंकुरित या फलोन्मुख नहीं हो सकता। यही कर्मोंका क्षय कहलाता है।

मन, वचन व काय की क्रियाओंपर अधिकाधिक नियन्त्रण रखना तथा भौतिक आशयों को छोड़कर आध्यात्मिक आशयों की ओर झुकना संवर कहलाता है। इस संवर के अभ्यास द्वारा जो धीरे धीरे कर्मोंका क्षय या निर्मूलन होता है उसे निर्जरा कहा जाता है।

इसी प्रकार अभ्यास करते करते अन्ततोगत्वा योगीजन अपने सम्पूर्ण कर्म संस्कारों को विनष्ट करने में सफल हो जाते हैं। उस की इस अन्तिम संस्कार विहीन शुद्ध अवस्था का नाम ही मोक्ष है। संस्कारों से विक्षिप्त अन्तष्करण सदा चञ्चल होता है जिस से वह व्याकुल बना रहता है। जब तक चित व्याकुल रहता है, तब तक ही संसार है, चूंकि उसे कर्मफल भोगने के लिये अनेकों शरीर एक के पश्चात एक धारण करने पड़ते हैं। इन शरीरों का मिलना और बिछुड़ना ही जन्म व मरण कहलाता है। अन्दर में व्याकुलता और बाहर में जन्म-मरण का नाम ही संसार है। संस्कार विहीन चित्त की चञ्चलता समाप्त हो जाती है, वह वायु रहित दीप शिखा के समान स्थिर हो जाता है। चित्त को चञ्चलता ही दुख है, और उस की स्थिरता ही आन्तरिक सुख है। चित्त के स्थिर हो जाने पर उस को शारीरिक जन्म-मरण आदि की यातनायें भी सहनी नहीं पड़ती। अब वह सदा समरस हुआ, स्थिर रहता हुआ अपने अन्तर रस में मग्न रहता है। यही मोक्ष है।

कर्म संस्कारों के वेदान्त दर्शनकारों ने अन्य प्रकार से तीन भेद किये हैं—क्रियमाण, संचित व प्रारब्ध। इनके केवल नामों का ही भेद है। वास्तव में ये सब पहले वाले भेदों में ही समा जाते हैं। जीव अपने मन, वचन काय की क्रियाओं द्वारा जो निरन्तर नवीन नवीन संस्कार संचय करता रहता है वे क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। इसे ही पहले आश्रव व बन्ध कहा गया है। नवीन कर्म करना आस्रव है, और उसके नवीन संस्कार उत्पन्न करना बन्ध है। इसलिये क्रियमाण कर्म आस्रव व बन्ध में समावेश पा जाता है। जन्म जन्मान्तरों से जीव जो अनेक प्रकार के कर्म करता चला आ रहा है, उनमें से जिन कर्मों के फल भोगने का अवसर उसे अभी तक नहीं मिला है, केवल संस्कार रूप से जीव के कर्माशय में पड़े हैं उन कर्मों को संचित कहते हैं। इसे ही जैनदर्शनकार सत्ता कहते हैं, जो कि पहले बताई जा

चुकी है। कर्माशय में भरे हुए अनन्त कर्मों में से जिन थोड़े से कर्मों ने जीव के वर्तमान स्थूल शरीर रूपी फल की उत्पत्ति कर दी है। अर्थात मृत्यु के समय जो फलोन्मुख होकर वर्तमान जन्म में फलभोग उत्पन्न कर रहे हैं, उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं। इसे ही जैनदर्शनकार उदय या विपाक कहते हैं, यह भी पहले बताया जा चुका है। संचित या सत्ता के कर्मों से फल भोग नहीं होता केवल प्रारब्ध या उदीयमान कर्मों से होता है सत्ता वाले संचित कर्मों का अनेक विशेष २ ढंग से उत्कर्षण-अपकर्षण, संक्रमण, उपशम व क्षय आदि किया जा सकता है।

यह सकल कर्म सिद्धान्त का संक्षिप्तसार है, जिसके पीछे महान विज्ञान छिपा है। इस विज्ञान का अन्तष्करण में साक्षात दर्शन किया जा सकता है, इस लिये इसे रूढि या गप न समझें।

४. कर्मफल दान क्रम } जिस कर्म के फल को भोगना ही पड़े अर्थात् जिसे बदला या टाला न जा सके उसे तीव्र कर्म कहते हैं। जिस कर्म के फल को टाला या बदला जा सके उसे मन्द जानना जैसे तीव्र क्रोध के उदय में उपदेश देकर समझाने वाले पर भी क्रोध आ जाया करता है, परन्तु मन्द क्रोध का उदय किसी के समझाने से भी दब जाता है। यह तो पूर्व में बान्धे हुए कर्म संस्कारों के फल सम्बन्धी तीव्रता व मन्दता की परीक्षा हुई। अब वर्तमान में ही बान्धे हुए कर्म संस्कारों के सम्बन्ध में भी समझिये। कोई कोई कर्म इतना तीव्र बान्धा जाता है, जिसका फल वर्तमान में ही मिल जाता है, जैसे कोई उत्पन्न पापी व घृणित भी जीव यदि मुनिव्रत धारण करले तो वर्तमान में ही पूज्य हो जाता है और कोई बड़ा धर्मात्मा जीव या मुनि यदि पाप में प्रवृति करने लगे तो वर्तमान में ही घृणास्पद हो जाता है। इसी बात को यों भी समझा जा सकता है कि जिन पुण्य अथवा पाप कर्मों का बल इतना तीव्र हो कि जिस से वह जीव के इस जन्म के कर्मों को भेदन कर के अपना फल उत्पन्न करदे वे ही तीव्र

कहलाते हैं। तथा वे दृष्ट जन्म वेदनीय अर्थात् वर्तमान में ही फल देने वाले होते हैं। जैसे कि वेदों में प्रसीद्ध कथानकों के अनुसार महात्मा नन्दीश्वर तप कर के इसीजन्म में मनुष्य योनिसे देवयोनिको प्राप्त हो गए, और जिस प्रकार नहुष इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित होने पर तीव्र अभिमान वश ऋषियों के द्वारा अपनी पालकी उठवाने के करण उसी जन्म में स्वर्ग से च्युत होकर पृथ्वी पर सर्प हो गए।

जैसा कि पहले धर्म कि आवश्यकता वाले प्रकरणमें बताया जा चुका है, यदि इस जन्म के किए हुए कर्मों का फल जन्मान्तरों में ही भोग हुआ करता है, परन्तु कदाचित जब पुण्य व पाप कर्मों का वेग अति उग्र होता हैं तो तीव्रता के कारण वह इस जन्म में ही फलदायक हो जाते हैं। कर्म की इस अलौकिक और विचित्र अवस्था को भी द्रष्ट जन्म वेदनीय कहा जाता है। अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्मों का स्वरूप साधारण ही है, क्योंकि साधारण जीवों में इसी कर्म की प्रबलता देखने में आती है। यदि ऐसा न होता तो जीवके किये हुए पाप व पुण्य कर्मों का फल हाथों हाथ ही मिल जाता है। इन अदृष्ट वेदनीय कर्मों के सस्कार जीव के अन्तःकरण में बीजरूप से रहते हुए जन्मान्तर में वृक्षरूप हो कर फल प्रदान किया करते हैं।

कर्म के उदय का रहस्य निम्न प्रकार से वर्णन किया जा सकता है। यह पहले बताया जा चुका है कि कर्मों के सस्कारों की राशि को कर्माशय या बन्ध कहते हैं। जब वे संस्कार परिस्थिति वश हो जाते हैं तो उसे उनका विपाक या उदय कहा जाता है। मनुष्य एक स्थूल शरीर को छोड़ कर जब दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है तो उस समय उसके कर्माशय में रहे हुए कुछ पुराने संस्कार आगे बढ़ कर अंकुरित हो उठते हैं और फलदायक हो जाते हैं। उन्हीं संस्कारों की फलदायक अवधि तक वह जीव उस शरीर में रहता है, अर्थात् उनकी फलदायक अवधि ही उस मनुष्य की आयु बन जाती

है। फलोन्मुख हुई राशि जब निरस हो जाती है—उसके रस भोग से मन ऊब जाता है। और नवीन रस भोग की मांग होने लगती है तो उसके पूर्व शरीर का विच्छेद हो जाता है दूसरे शरीर में जाते समय पुनः इसी प्रकार कर्माशय संचित अन्य संस्कार फलोन्मुख हो उठते हैं और उसके अनुसार पुनः आयु बन जाती है। इस प्रकार बराबर जीव जन्म-मरण करता है।

कौनसे कर्म मृत्यु के समय फलोन्मुख होते हैं यह बात भी विज्ञान द्वारा जानी जा सकती है। जिस प्रकार सात प्रकार के धातु कणों के मिश्रित ढ़ेर में यदि चुम्बक को रख दिया जाय तो उसके चारों ओर बिखरे हुए अन्य धातुकणों को छोड़ कर केवल लोहकण इधर उधर से सिमटकर चुम्बक में आ मिलते हैं, ठीक उसी प्रकार जीव के एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर धारण करते समय उसके अन्तिम संस्कार जिस श्रेणी के होंगे मुख्यतः उसी श्रेणी के संस्कार उसकी पूर्व संचित राशि से खिचकर उसका नेतृत्व करने लगेगें, यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में यह कहावत प्रचलित है कि "अन्त मता सो मता"। इसी कारण मरणासन्न पुरुष का समाधिमरण कराया जाता है। उसको पलंग से उतार कर साथरा पर लिटाया जाता था जो इसके वैराग्य धारण का प्रतीक है। यद्यपि आज यह बात रुढि मात्र रह गई है, परन्तु प्राचीन काल में मनुष्य अपनी मर्जी से अन्तिम समय वैराग्य धारण कर लेते थे, और इस प्रकार अपना आगामी भव सुधार लेते थे। क्यों कि अन्तिम समय की वैराग्य दशा में केवल पुण्य राशि के संस्कार ही फलोन्मुख हुआ करते हैं।

इसी रहस्य को और प्रकार से भी समझ सकते हैं। जिस प्रकार एक गम्भीर जलाशय के अन्तःस्तल में जो जलराशि रहती है, सो दिखाई नहीं देती। केवल उसके ऊपर की सतह का जल ही दिखाई देता है। उसी प्रकार अन्तष्करण में अंकित अनन्तकर्म राशि जहां कि

वहां बनी रहती है अर्थात सत्ता रुप अन्दर में पड़ी सोई रहती है, जिसका तुरन्त कुछ फल नहीं होता, परन्तु दूसरा स्थूल शरीर धारण करते समय जितनी संस्कार राशि अन्तष्करण से खिचकर कामना कल्पना और संकल्प विकल्प बनकर प्रगट हो जाती है। उन्हीं के अनुरूप आगामी भव की रूप रेखा तैयार हो जाती है।

५. कर्म फलदान की सिद्धि } कर्म के फल देने का क्या तात्पर्य है, यह बात पहले संस्कारों का परिचय देते बता दी गई है। कर्म कोइ क्रूर आततायी व्यक्ति नहीं है जो प्रत्यक्ष में सन्मुख होकर किसी को मारता हो। वे तो व्यक्ति के साथ रहने वाले, उस के अन्तष्करण में बसने वाले संस्कार, अभ्यास व आदतें हैं, जो स्वयं उसके जीवन की विशेष परिस्थितियों में जाने या अनजाने अपने में सृजन होने वाली मानसिक वृत्तियों, वचनालापों, कायिक विकृतियों द्वारा अपने में अंकित किये हैं, ये संस्कार न तो व्यक्ति की मरजी के बिना उस में प्रवेश करते हैं और न ही ये उसकी मरजी के विरूद्ध जोर जबर करके उसे किसी मार्ग में धकेलते हैं ये तो सब व्यक्ति के अपने पाले पोषे जांचे परखे सहायक साथी हैं, जिन्हें वह सदा अपने सीने से लगाये रहता है। इस जन्म में भी और जन्मान्तर में भी। ये वृतियां, प्रलाप और विक्रियांए हर एक व्यक्ति में अपनी २ विशेषताओं को लिये हुए हैं। इन्हीं से प्रत्येक व्यक्ति का निजी व्यक्तित्व बनता है, इन्हीं से प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से भिन्न पहिचाना जाता है इन्हीं के अध्ययन द्वारा यदि इनमें कोई आकस्मिक मोड़ न आया हो तो व्यक्ति के पिछले और अगले भवों की रूपरेखा खेंची जा सकती है। जैसे पृथ्वी में बोये सभी बीजों की एक सी दशा नहीं होती। इन में से कुछ जिन्हें आगे उगने और पनपने के लिये कोई पोषक तत्व नहीं मिलते वे सूख-मुरझा कर निस्फल हो जाते हैं इसीप्रकार जीवन में बोये हुए कुछ कर्म आगे बढ़ने और फलने के पोषक तत्व न मिलने से शीघ्र ही

निष्फल हो जाते हैं, वे जैसे सहज से उगते हैं, वैसे ही सहज से विलय भी हो जाते हैं-इन्हें जैन दर्शनकार इर्यापथ आस्रव कहते हैं। बोये हुए कुछ कर्म फसली कर्म होते है वे युगों और ऋतुओं के फसली वाता-वरण को पाकर उगते और बढ़ते हैं —जैसे भूमिमण्डल के युग-युगान्तरों में पैदा होने वाले भूतों की विभिन्न देहिक आकृतियां।

जिस प्रकार पृथिवीमें डाले गए बीज तुरन्त अंकुरित नहीं होते, उसी प्रकार अन्तष्करण या कर्माशय में अंकित भी कोई छाप तुरंत ही अंकुरित नहीं होती। जिस प्रकार व्यापार प्ररम्भ करते ही तुरंत व्यक्ति धनवान नहीं बन जाता इसी प्रकार कर्माशय या बन्ध भी तुरंत अपना प्रभाव नहीं दिखा सकता। धीरे धीरे अपने समय पर पककर बीज अंकुरित होते हैं, पूरी तरह पककर ही फल वृक्ष से गिरता है, पूरी तरह जमकर ही व्यापार धनप्रदान करता है, उसी प्रकार पूरी तरह पककर अपने अपने समयपर कर्मांश फलोन्मुख होते हैं। वह भी यदि बाह्य को वातावरण उसके अनुकूल मिले तो फल देते हैं अन्यथा अन्दर में पड़े रहते हैं। आप क्या जाने कि आप में भी इस समय चोरी करने का संस्कार पड़ा हुआ है जो पहले जन्मों में कभी आपने बनाया था। वह संस्कार है या नहीं इस बात की परीक्षा तो तब हो जब कि आपका धन विनष्ट हो जाये और आप भूखे मरने लगे। ऐसी अवस्था में भी यदि किसी की वस्तु छीन लेने को आपका जी नहीं करता तब तो कह सकते हैं कि वह संस्कार आप में नहीं है। परन्तु ऐसी परिस्थिति में आप किसी रूप में भी चोरी कर लेने को उत्सुक हो जाते हैं। तो कहा जायेगा कि पहले से ही चोरी का संस्कार आप में था। अन्यथा अब भी बिना किसी के सिखाये यह परिणाम आपके हृदय में स्थान कैसे पाता ?

इसी प्रकार यद्यपि बन्दर की योनिके, सिंह आदि हिंसक पशुओं की योनिके अथवा अन्य पशु पक्षियों आदि के सभी संस्कार आप में

विद्यमान है, परन्तु मनुष्य के वातावरण में जन्म धारण करने के कारण उन सब में से केवल मनुष्य के योग्य ही कर्माशय खिचकर फल देने के योग्य हुआ है। अन्य सर्व कर्म अभी भी पड़े हैं। उस प्रकार का जन्म पाने पर वे जागृत होंगे। अवसर व अनुकूल बाह्य वातावरण प्राप्त हो जाने चित में बिना किसी बाह्य प्रेरणा के स्वतः ही जो तिलमिलाहट सी उत्पन्न हुआ करती है, और जिससे प्ररित होकर व्यक्ति उस उस प्रकार का कार्य करने लगता है, वही कर्म संस्कार का फल समझना चाहिये। और जिस कार्य के करने के लिये किसी बाह्य की प्रेरणा या शिक्षादि की आवश्यकता पड़ती हो उसे नवीन संस्कार जानना चाहिये।

अन्य प्रकार से भी कर्म का फल देखने में आता है। कोई व्यक्ति अल्पमात्र परिश्रम से ही या बिना परिश्रम विशेष के ही बहुत धन प्राप्त कर लेता है, कोई व्यक्ति अधिक परिश्रम द्वारा भी पेट भर मात्र पाता है, कोई व्यक्ति अलबला खाकर भी स्वस्थ रहता है, और कोई वयक्ति स्वास्थय की बहुत सावधानी रखता हुआ भी सदा रोगी रहता है। क्लास में सामान्य रीति से गुरू द्वारा पढ़ाये जाने पर भी कोई विद्यार्थी बिना परिश्रम विशेष के जल्दी पढ़ कर बहुत विद्वान बन जाता है और कोई बहुत अधिक मेहनत करके भी तथा बहुत काल मेंभी नहीं पढ़ पाता मूर्ख ही बना रहता है। किसी को एक बार याद की हुई बात फिर भूलती नहीं और किसी को तुरंत भूल जाती है, कोई बिना सिखाये ही बचपन से क्रूर प्रकृतिका होता है और कोई स्वभाव से ही दयालु व दानी है। ये सब विषमतायें कर्म फल के अतिरिक्त कुछ नहीं। कहना ही होगा कि उस व्यक्ति ने पूर्व जन्म में उस उस प्रकार के कार्य कर करके बहुत कर्म संग्रह किये हैं जिनका अब उसे फल मिल रहा है।

उदार हृदय दानी व्यक्ति यद्यपि वर्तमान में अपना धन फैंकता

है पर उसकी उस वृत्ति के कारण जो संस्कार उस के अन्तष्करण में बैठ जाते हैं, वे उसके साथ-साथ जन्मान्तर में भी जाते हैं। जिन-जिन व्यक्तियों को उसने दान दिया है, उसकी आशीर्वादें भी अदृष्ट रहकर उसका साथ देती हैं। उसके प्रताप से उसे धन मिलता है। यद्यपि पूर्व संस्कार वश अब भी उसे दानी रहना चाहिये, परन्तु बाहर के कुछ स्वार्थी व कुटुम्बी जनों के मना करने पर तथा उनके तीव्र ममत्व में पड़कर वह अब दानादि देना बन्द कर देता है, तथा भोग-विलास व पापाचार में धन खरचने लगता है। धन के अभिमान में चूर होकर न्याय अन्याय का विवेक भी भूल जाता है। अत: ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानों इस धन की प्राप्ति उसे पापाचार से हो रही है, परन्तु ऐसी सोचना भूल है। धनकी प्राप्ती तो पूर्व पुण्य कर्म के कारण ही हुई है, क्योंकि सभी अन्याय करनेवाले धन प्राप्त नहीं लेते। जिस प्रकार पूर्व के शुभ कर्मों का फल वर्तमान में धन के रूप में मिला है, उसी प्रकार वर्तमान कर्मों का फल अगले जन्म में निर्धनता के रूप में अवश्य मिलेगा। या यों समझ लीजिये कि यदि वह अब भी पूर्ववत् ही दान देने आदि शुभ कार्य करता रहता तो उसका धन इससे भी अधिक बढ़ जाता, परन्तु अब उतना नहीं बढ़ पाया। धन के आधिक्य में उसे इस बात की प्रतिती हो नहीं पाती।

अन्य प्रकार से भी कर्म की फलदान शक्ति को देखा जा सकता है। विचार कीजिये एक व्यक्ति का जिसे आज कोई नहीं जानता। उसने कुछ धार्मिक प्रवृत्ति को अपनाना प्रारम्भ किया। निज मन्दिर में आकर पूजा आदि भी करने लगा और धर्म शास्त्रों का स्वाध्याय भी करने लगा। धीरे धीरे ज्ञान में वृद्धि हुई। अब धार्मिक जलसों में सुन्दर उपदेश व भाषण भी देने लगा। उसकी भाषण कुशलता, विद्वत्ता व धर्म परायणता की चर्चा कानोंकान होने लगी। धीरे धीरे प्रसिद्धि बढ़ गई। अब बहार के ग्रामों से भी उसके पास निमन्त्रण

आने लगे। वह बहार भी यथा अवसर व यथावकाश उपदेश देनेको जाने लगा। पत्रों में उसके लेख व फोटो छपने लगे। और इस प्रकार व धीरे धीरे सर्वजन प्रियहो गया। दूसरी ओर घर पर भी उसकी वृति उदार हो गई। दान देने के लिये उसका हाथ खुल गया। सामाजिक चन्दों में उसका नाम सर्व प्रथम रहने लगा। गरीब भिखारी भी उसके द्वार से कभी खाली न लौटते थे। अतिथियों का भी बहुत सेवा सत्कार करता था। इस कारण नगर में जो भी पण्डित या कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति कदाचित आता तो उसके घरपर ही ठहरना पसन्द करता था। वह भी सदा ऐसे व्यक्तियों की खोज में रहता था और मिल जाने पर बड़ा हर्षित होता था। अतिथि सेवा में धन खर्च करना वह अपना सौभाग्य समझता था। यह हुई व्यक्ति की धर्म वा सात्विक प्रवृति या कहिये शुभ कर्म।

अब इस कर्म का फल देखिये क्या होता है। यद्यपि वह कर्म करना तो उसने दो साल पूर्व प्रारम्भ किया था, पर इतने काल पर्यन्त समाज की उसकी कोई विशेष प्रसिद्धि न हुई। सब लोग उसके साथ पहले दो वर्षों में साधारण ही व्यवहार करते रहे। इसे ही यों कह लीजिये कि दो वर्ष पर्यन्त उसे अपने कर्म का बाहर में कोई फल प्राप्त न हुआ। दो वर्ष पश्चात उसका कर्म फल देने लगा और उसकी प्रसिद्धि व ख्याति बढ़ने लगी। १० वर्ष पश्चात वह कर्म पूर्ण फलित हो गया, और वह समाज का एक बहुत प्रतिष्ठित व धर्मात्मा व्यक्ति बन गया। उसके ग्राम में ही नहीं दूर दूर के ग्रामों में उसका नाम सम्मान से लिया जाने लगा। पहले जब कभी कहीं बाहर अन्य ग्राम में जाता था तो भोजन की व्यवस्था करने में तथा अपनी व्यवस्था करने में उसे बड़ी कठिनाईयां हुआ करती थी, परन्तु अब जहां कहीं भी जाता है लोग उसे हाथों हाथ उठा लेते हैं। अब उसे भोजन की व्यवस्था की चिंता है न अपने काम करने में कोई संशय। आज इसको भोजन

देने वाले नहीं अनेकों है। उसे बाहर जाकर अपने हाथ से कुछ करना नहीं पड़ता, दूसरे ही उसका काम हर्ष पूर्वक अपने हाथों से कर देते हैं आज उसके अनेकों काम केवल पत्र व्यवहार से निकल जाते हैं। अतः उसका व्यापार भी बहुत बढ़ गया है जिस कारण वह धनवान भी बन गया है। यह हुआ शुभ कर्म का फल ।

अब कल्पना कीजिये कि वही व्यक्ति कदाचित कुसंगति में पड़ जाता है। मन्दिर आदि जाना छोड़ देता है। शास्त्र स्वाध्याय आदि भी बंद कर देता है। घर पर अतिथि सेवा आदि से भी हाथ रोकने लग जाता हैं। इसके अतिरिक्त वह छिप-छिप कर जुआ खेलने व वेश्या के हां जाने लगा है। यह उसका अशुभ कम हुआ।

अब इस कर्म का फल देखिये क्या होता है। पहले दो वर्ष पर्यन्त बाहर में कोई अन्तर नहीं पडता अर्थात् दो वर्ष तक उस कर्म का बाहर में कोई फल नहीं होता। २ वर्ष पश्चात धीरे-धीरे उसका ज्ञान घटते-घटते लुप्त हो जाता है। उपदेश आदि देने की प्रवृति भी धीरे-धीरे रूक जाती है। बाहर ग्रामों से निमन्त्रण आने भी रूक जाते हैं। उस के मुख पर कालिमा सी छा जाती है जिस के कारण उस कें समाज के व्यक्ति भी उस से कुछ बचने लगते हैं। अब कोई अतिथि भी उस के घर पर जाना नहीं चाहता। इस प्रकार धीरे-धीरे १० वर्ष के पश्चात वह पुनः एक साधारण व्यक्ति बनकर रह जाता है अब वह बाहर जाता हैं तो उसे भोजनादि को पूछने वाला कोई नहीं। उसे पूर्ववत् अब अपनी व्यवस्था स्वयं करनी पड़ती है। उसके पत्र का आज कोई मूल्य नहीं। व्यापार भी घट गया है और इस प्रकार लक्ष्मी भी अब उससे किनारा करने लगी है। यह है अशुभ कर्म का फल ।

इस उदाहरण पर से यह बात स्पष्ट है कि शुभ कर्म हो या अशुभ, पहले कुछ काल पर्यंत उसका बाहर में कोई फल नहीं होता।

फिर धीरे धीरे वह फलोन्मुख होने लगता है और कुछ काल पश्चात वह पूर्ण फलित हो जाता है. शुभ कर्म का फल मधुर व अशुभ कर्म का फल कटु होता है। जिस प्रकार उदाहरण में एक ही जन्म में कर्म करना वउसके फल का भोगना दर्शाया गया उसी प्रकार जन्मातरों में भों समझना। भले ही जन्मान्तर में हमे यह पता न लग पाये कि यह धन व यश आदि की प्राप्ति किस कारण से हुई है परन्तु उसके पीछे पूर्व जन्म कृत कर्म अवश्य बैठा है। जिस प्रकार उदाहरण में उस व्यक्ति को जिस यश व समृद्धि या अपयश व दरिद्रता की प्राप्ति हुई है, वह यह कहकर नहीं हुई है कि मैं अमूक शुभ या अशुभ कर्म का फल हूँ। इसी प्रकार जन्मजन्मातरों में भी जिस धन व यश तथा दारिद्रता व अपयश आदि की प्राप्ति होती है, वह यह कहकर नहीं होती कि मैं अमुक शुभ अशुभकर्म का फल हूँ जिस प्रकार उदाहरण में आप इन मधुर व कटु प्राप्तियों कों निःसन्देह उस व्यक्ति के कृत शुभ वा अशुभ कर्मों का फल ही मानते हैं उसी प्रकार जन्मातरों में होने वाली मधुर व कटु प्राप्तियों को भी निःसन्देह उस व्यक्तिके पूर्व जन्मकृत शुभ व अशुभ कर्मों का ही फल मानना चाहिये, क्योंकि यह प्राप्तियें बिना कारण के नहीं हो गई हैं। उदाहरण में उन प्राप्तियों के कारण पूर्वकृत कर्म ज्ञात है, इसलिये उनपर आप विश्वास करते हैं, पदन्तु जन्मातरों में उन प्राप्तियों के कारण रूप पूर्व जन्म कृत् कर्म आपको ज्ञात नहीं हैं इसलिये उनपर आप विश्वास नहीं करते। आपके विश्वास न करने से कहीं उन पूर्व जन्म कृत कर्मों का अभाव नहीं हो जाता। कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता, इस तर्क से उमकी सिद्धि हो जाती है। अत: अधिक विस्तार से किया कर्म, कर्म की शक्तियें व उसका फल यह सभी विश्वास किया जाने योग्य है। यह एक महान सिद्धाँत है जो इसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार की बीज व वृक्ष।

कर्म का फल इस प्रकार से भी देखा जा सकता है। एक बार दो व्यक्ति घर से चले—एक धर्मात्मा दूसरा हत्यारा। मार्ग में धर्मात्मा व्यक्ति को तो पांव में कांटा लगा और हत्यारे को एक थैली अशर्फियों की पड़ी पा गई। दोनों जब परस्पर में मिले तो हत्यारा व्यक्ति डींगें मारने लगा कि देख तेरे धर्म का ही यह फल है कि तुझे पांव में काँटा लगा और पाप का यह फल है कि मुझे अशर्फियां मिली। इस पंचम काल में धर्म का नहीं पाप का राज्य है। धर्मी दुखी होता है और अधर्मी सुखी। धर्मात्मा व्यक्ति के पास कोई उत्तर न था। बल्कि इस घटना को देख कर उसका विश्वास भी धर्म पर से उठने लगा। इस बात का निर्णय कराने दोनों गुरुदेव के पास गये। गुरुदेव ने उनकी बात सुन कर बताया कि भाई! अपनी उल्टी बुद्धि को छोड़ो। अधर्म से सुख व धर्म से दुख होना असम्भव है। वास्तव में बात तो यों है कि पूर्व पाप के तीव्र उदय के कारण इस धर्मात्मा व्यक्ति को सूली मिलती थी, परन्तु वर्तमान धर्म के फलस्वरूप उस कर्म की शक्ति इतनी घट गई कि सूली की बजाये केवल सूल पर हो टल गई। और इस हत्यारे को पूर्व पुण्य के कारण इस समय राज्य की प्राप्ति होनी थी, परन्तु वर्तमान में इसके पाप के कारण उस कर्म की शक्ति इतनी घट गई कि राज्य की बजाय केवल कुछ अशर्फियें रह गई। इस प्रकार पूर्व व वर्तमान के कर्मों की मिल कर जो एक मिश्रित दशा हो जाती है, वही वास्तव में फल प्रदायी होती है। कभी भी अशुभ कर्म से धन व शुभ कर्म से दरिद्रता नहीं मिला करती। इस दृष्टांत पर से कर्म का उदय अपकर्षण व उत्कर्षण सब कुछ जाना जा सकता है।

६ कर्म सिद्धांत का संक्षिप्त सार } इतना बड़ा व महान कर्म सिद्धान्त इतने संक्षेप में समझाना है तो कठीन, परन्तु यदि कुछ बुद्धि पर ज़ोर दे और इस विज्ञान की अन्तष्करण में खोज करें तो समझना

सम्भव अवश्य है। पाठक जनों की सुविधा के लिये यहां अन्त में आकर कर्म सिद्धांत सम्बन्धी कुछ विशेष विशेष सैद्धांतिक शब्दों के अर्थ बताये जाते हैं ताकि उन्हें याद किया जा सके। एक बार यदि सिद्धान्त सदभ्क लिया है तो इन सारे शब्दों का अर्थ भी संकेत मात्र में समझ में आ जायेगा। आगे शास्त्रों में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग आने पर आपको समझने में कठिराई न पड़ेगी।

१. **कर्म** का अर्थ है संस्कार।

२. मन वचन कायकी क्रिया का नाम है कर्म का **आस्रव** या **क्रियमाण कर्म**।

३. अन्तष्करण में नवीन संस्कार का उत्पन्न होना ही **बन्ध** कहलाता है।

४. अन्तष्करण में संग्रह किया गया संस्कार समूह **सत्ता** या **संचित कर्म**।

५. सत्ता या सञ्चित कर्म राशिमें से जितने कर्म फलोन्मुख होकर भोग उत्पन्न कराते हैं, उन्हें कहते हैं **विपाक** या **प्रारब्ध कर्म**।

६. कर्म का साक्षात फल प्राप्त होना कहलाता है कर्म का **उदय** या **भोग**।

७. कर्म की तीव्र व मन्द शक्तियों का नाम है **अनुभाग**।

८. इसी जन्म में फल देने वाले कर्म को कहते हैं **दृष्ट जन्म वेदनीय**।

९. अगामी जन्म में फल देने वाले कर्म को कहत हैं **अदृष्ट जन्म वेदनीय**।

१०. अदृष्ट जन्म वेदनीय को दृष्ट जन्म वेदनीय की श्रेणी में ले आने को **अपकर्षण** कहते हैं।

११. दृष्ट जन्म वेदनीय को अदष्ट जन्म वेदनीय की श्रेणी में ले जाने को **उत्कर्षण** कहते हैं।
१२. कर्म संस्कार की जाति को बदलकर शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ बना देना **संक्रमण** कहलाता हैं।
१३. पुण्य कर्म शुभ है और पाप कर्म अशुभ।
१४. जिन कर्मों का उत्कर्षण अपकर्षण व संक्रमण किया जाना सम्भव न हो ऐसे तीव्र कर्मों को कहते हैं **निकाचित**।
१५. कर्म के उदय को किसी प्रकार कुछ काल के लिये दबा देना है **उपशम**।
१६. कर्म को समूल विनष्ट कर देना है **क्षय**।
१७. मन, वचन व काय की क्रियाओं में ब्रेक लगाकर आस्रव या क्रियामण कर्म को रोकना है **संवर**।
१८. धीरे धीरे कर्म संस्कारों को क्षय करना है **निर्जरा**
१९. कर्म व संस्कार विहीन दशा का नाम है **मोक्ष**।
२०. अन्दर में चित्त की चन्चलता और बाहर में शरीरों का जन्म मरण कहलाता है **संसार**।

परम पूज्य गुरुवर्य क्षु० जिनेन्द्र वर्णी जी रचित साहित्य के आधार पर यह छोटी सी पुस्तक तैयार की गई है। आशा है कि आज के नास्तिक युग में भव्य जीवों के हृदय में आलोक प्रदान करेगी। विशेष विस्तार के लिये देखिये पूज्य गुरु जी का साहित्य :—

★ नया दर्पण

★ शान्ति पथ प्रदर्शन

मिलने का पता :—
विश्व जैन मिशन
केन्द्र - पानीपत

भेंटकर्ता :—

श्रीमती सुशीलादेवी धर्मपत्नी श्री सुकुमालकुमार जैन

१६३९, मोड़ वाला फाटक, दरीबा कलाँ, दिल्ली